प्रकाशक :
राजस्थान प्रकाशन
त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर–2

कम्पोजिंग :
जनरल कम्पोजिंग एजेन्सी
किशनपोल बाजार,
जयपुर–3

मुद्रक :
मॉडर्न प्रिन्टर्स,
गोधों का रास्ता
जयपुर–3

संस्करण :
प्रथम, 1989

मूल्य :
60.00

लेखक :
डॉ. जमनालाल बायती

नई राष्ट्रीय
शिक्षा नीति

राजस्थान प्रकाशन
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-2

समर्पण

नई शिक्षा के आधार स्तम्भ

श्री अनिल बोर्दिया, I A S

को

सादर-सश्रद्धा भेंट

—लेखक

आमुख

श्री जमनालाल बायती शैक्षिक क्षेत्र मे एक सजग लेखक के रूप में पिछले साढ़े तीन चार वर्षों से मेरे मार्गदर्शन में काम कर रहे हैं। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर इनके कुछ लेख ग्रन्थ रूप मे पढ़ने को मिले है। श्री बायती किसी भी विषय पर पक्ष विपक्ष के सभी तथ्य प्रकाश में लाते है। खुले विश्वविद्यालय, नवोदय विद्यालय तथा जवाबदेही के बारे में सम्पूर्ण जानकारी देने के बाद अपनी राय भी आलोचना के रूप में जोड़ी है-इससे इन योजनाओं पर काम करते समय सावधान रहने का संकेत मिलता है। अन्य सभी रचनाओं से भी बायती का विशाल अध्ययन सूझ-बूझ तथा अन्तर्दृष्टि स्पष्ट होती है। डिग्री को नौकरी से असम्बद्ध करने पर तर्कों पर आधारित महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर बहुत कम सामग्री प्रकाश में आई है। इस दृष्टि से डॉ० बायती के कुछ लेखों का यह संकलन शिक्षा अधिकारियों तथा शिक्षा में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों में महत्वपूर्ण स्थान बना लेगा। पुस्तक सामयिक, उपयोगी एवं संग्रहणीय बन गई है।

जगदीश नारायण पुरोहित
डीन, शिक्षा संकाय अजमेर विश्वविद्यालय
एवं
प्रधानाचार्य राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय
बीकानेर (राज०) 334001

दिनांक 31-8-1988

आत्म कथ्य

प्रस्तुत पुस्तक में नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के कुछ पक्षों पर विचार किया गया है। कुछ तथ्य आज की परिवर्तित परिस्थितियों में सर्वथा नये रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। नई शिक्षा नीति से जुड़े कई ऐसे पक्ष हो सकते है जो इस पुस्तक की परिधि में न आ पाये हों या वे पृथक से भिन्न रूप में विवेचना की अपेक्षा रखते हों, यदि ऐसा लगता है तो इसे लेखक के ज्ञान की सीमा मानना चाहिए।

आज शिक्षा से जुड़े व्यक्ति या अधिकारी शिक्षा में सुधार की चर्चा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके विचार को, चिन्तन प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकी तो लेखक अपने परिश्रम को सार्थक मानेगा। यद्यपि पुस्तक के लेखक के रूप में एक ही नाम दिया गया है पर इसके कुछ प्रकरण यथा-खुला विश्वविद्यालय, अध्यापक की जवाबदेही, शिक्षा तथा राजनीति और शिक्षा के समान अवसरों पर टिप्पणी शीर्षक प्रकरण लेखक ने अपनी पत्नी श्रीमती कृष्णा माहेश्वरी, प्राध्यापिका के सहयोग से लिखे है।

लेखक के शैक्षिक चिन्तन को अग्रसर करने में प्रोफेसर आर. पी. सिंह, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, प्रो. रामशकल पाण्डेय डीन एवं विभागाध्यक्ष, शिक्षा संकाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, श्री के. एल. बोर्दिया, भूतपूर्व अध्यक्ष, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, श्री एम. एल माहेश्वरी, सेवानिवृत प्रधानाचार्य, पालीवाल कॉलेज, अलीगढ़, डॉ. पी. एन. माहेश्वरी, प्राचार्य, आदर्श विद्या मन्दिर, शिक्षा महाविद्यालय, श्री शिवरतन जी थानवी, संयुक्त निदेशक, श्री सी. एस. मेहता निदेशक प्रौढ शिक्षा, अह्लादत्त वैष्णव, उपनिदेशक, सुश्री उषा सुन्दरी बली, निदेशक, मूल्यांकन एवं अकादमिक कार्यक्रम, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, डॉ सुश्री शान्ता अग्रवाल उप प्रधानाचार्य, प्रो० एम. बी. एल. माथुर, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर, श्री इन्द्रनारायण मूथा, वरिष्ठ सम्पादक शिविरा–नया शिक्षक तथा डॉ. श्रीमती शक्तिपूर्णा गुप्ता अनुसंधान अधिकारी, शिक्षा निदेशालय, बीकानेर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन सभी अधिकारियों सहित प्रधानाचार्य एवं डीन. शिक्षा संकाय, अजमेर विश्वविद्यालय, श्री जगदीश नारायण जी साहब पुरोहित का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी पुस्तक के लिए आमुख लिखा तथा लेखक को राष्ट्रीय स्तर की कार्यशालाओं तथा विचारगोष्ठियों में भाग लेकर विचारों में स्पष्टता लाने का अवसर प्रदान किया। परीक्षाओं के संचा-

लन एवं उनके परिणामों को लेकर अति व्यस्त उपकुल सचिव डॉ. एम. एम. शर्मा ने पुस्तक की देखा-परखा तथा सम्मति लिख सके, तदर्थ उन्हें धन्यवाद।

इस पुस्तक के कुछ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर छप चुके हैं। सर्व श्री प्रो डी. एन. खोसला, एन. सी. ई. आर. टी., श्री श्याम सुन्दर जी सा आचार्य, सम्पादक नवभारत टाइम्स-जयपुर संस्करण, श्री दुर्गाशंकर जी त्रिवेदी, सम्पादक, रविवारीय परिशिष्ट, राजस्थान पत्रिका, श्री इन्द्रनारायण जी मूथा, वरिष्ठ सम्पादक, शिविरा—नया शिक्षक, सम्पादक, साहित्य परिचय का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने लेखक की रचनाओं को अपने पत्र-पत्रिकाओं में स्थान देकर लेखक को विशाल पाठक समुदाय से परिचित कराया है। इन सम्पादकों द्वारा सहृदयतापूर्वक अपने यहां छपी रचनाओं को पुस्तकाकार में सम्मिलित करने के लिए कृपापूर्वक दी गई अनुमति के लिए लेखक धन्यवाद ज्ञापित करता है।

आभार प्रदर्शन की यह टिप्पणी अधूरी ही कही जायेगी, यदि मैं इसमें मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा माहेश्वरी, एम. ए., एम. एड, प्राध्यापिका को धन्यवाद न दूँ। श्रीमती बायती ने मुझे सदैव कठोर परिश्रम करने के लिए उत्प्रेरित किया है। हमारे व्यस्त दाम्पत्य जीवन में भी उसने ऐसी व्यवस्था बनाये रखी है कि लेखक को पढ़ने लिखने के लिए निरन्तर समय मिल सके। मेरी शैक्षिक उपलब्धियों का श्रेय श्रीमती बायती को भी जाता है। उन्होंने कष्ट सहा, पारिवारिक दायित्वों के प्रति मेरी उपेक्षा सही, उनके त्याग को भुलाया नहीं जा सकता।

पुस्तक को अति अल्प समय में इस आकर्षक एवं उपयुक्त रूप में प्रकाशित करने के लिए राजस्थान प्रकाशन के मालिक श्री राजेन्द्र कुमार जी को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। पुस्तक में विवेचित विचार, तथ्य, अन्तिम नहीं है। समय बीतने एवं परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ उनमें परिवर्तन आना स्वाभाविक है, इसी दृष्टि से पुस्तक के सुधार के लिए सुधी पाठकों के रचनात्मक सुझावों का सदैव स्वागत है।

—डॉ. जमनालाल बायती
डी. लिट.

राजकीय स्नातकोत्तर शिक्षक
प्रशिक्षण महाविद्यालय,
बीकानेर (राज.) 334001
शिक्षक दिवस,
5 सितम्बर, 1988.

सम्मति

☐ अपने विद्यार्थियों में लोकप्रिय डॉ० जमनालाल बायती से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। कई बार अनौपचारिक अवसरों पर डॉ० बायती के आलोचनात्मक चिन्तन तथा अकाट्य तर्कों से मैं बड़ा प्रभावित हुआ हूँ। प्रस्तुत पुस्तक में उनके परिपक्व विचार स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति से जुड़े लोग डा० बायती की प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से परम्परा से हट कर एक नया दृष्टिकोण विकसित कर सकेंगे—इसी दृष्टि से पुस्तक की उपयोगिता आंकी जानी चाहिए। पुस्तक के व्यापक प्रचार की कामना के साथ,

डा० एम० एन० शर्मा
उपकुलसचिव (सीकेसी)
अजमेर विश्वविद्यालय
अजमेर।

☐ नई शिक्षा नीति में राष्ट्रीय जीवन को अनुप्राणित करने के लिए अनेक उपयोगी सुझाव दिये गये हैं। अब तक चली आ रही घिसी-पिटी शिक्षा प्रणाली में नवजीवन का संचार करने का प्रयास नई शिक्षा नीति की विशेषता है। शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी व्यक्तियों को नई शिक्षा नीति से अवश्य परिचित होना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन करके लेखक ने शिक्षा जगत का बड़ा उपकार किया है। इस पुस्तक के अध्ययन से राष्ट्रीय शिक्षा नीति के विभिन्न आयामों का परिचय सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

☐ डॉ० जमना लाल बायती हिन्दी में शिक्षा-साहित्य के सिद्धहस्त लेखक हैं। इन्होंने लगभग एक दर्जन सुन्दर पुस्तकों की रचना करके शिक्षा जगत की जो सेवा की है, उसके लिए ये प्रशंसा के भाजन हैं। मेरी कामना है कि डॉ० बायती इसी प्रकार अपनी लेखनी से शिक्षा साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहें।

डा० रामशकल पाण्डेय
इलाहबाद विश्वविद्यालय
इलाहबाद

सम्मति

☐ राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा के पश्चात नवोदय विद्यालय, खुला विद्यालय एवं डिग्री नौकरी का सम्बन्ध विच्छेद शीर्षक पर जनसाधारण में बहुत चर्चा हुई है। इस पुस्तक में एक अनुभवी अध्यापक के रूप में शिक्षा जगत के बहुचर्चित लेखक डॉ० जमनालाल बायती ने इन शीर्षकों के पक्ष-विपक्ष पर विस्तृत चर्चा की है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा के बाद अभिभावकों में जो आशंकायें पैदा हुई हैं, प्रस्तुत उन सभी आशंकाओं का निवारण करने में पूर्णतया सक्षम है। शिक्षा से सम्बन्ध पाठकों में इस पुस्तक के स्वागत् की कामना के साथ ....

डॉ० शक्तिपूर्ण गुप्ता
अनुसंधान अधिकारी
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा
राजस्थान, बीकानेर



☐ शिविरा-नया शिक्षक के पाठक डॉ. जमनालाल बायती के नाम से अपरिचित नहीं हैं। श्री बायती ने नई शिक्षा नीति के कुछ पक्षों पर विस्तृत लिखा है। प्रस्तुत संकलन में विवेचित सामग्री से सामान्य पाठक अत्यधिक लाभान्वित होंगे। शिक्षा के व्यापक परिवेश को प्रारम्भिक अध्यायों में उजागर किया गया है। इस दृष्टि से पुस्तक की शिक्षा जगत में सर्वत्र सराहना की जानी चाहिए।

इन्द्रनारायण मूथा
वरिष्ठ संपादक
शिविरा—नया शिक्षक,
शिक्षा विभाग, राजस्थान, बीकानेर

क्रम

शिक्षा में नवाचार

विद्यालय, समाज के लघु रूप में शैक्षिक सुधार तथा समाज की पुनः रचना हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । विद्यालय दिन-रात समस्याओं तथा चुनौतियों का सामना करते हैं । समाज की समस्यायें मूलतः विद्यालय की ही समस्यायें हैं । इसलिए विद्यालयों को अद्यतन ज्ञान, नवीन तकनीक, नई सूझबूझ से जानकर होना चाहिए. उन्हें समस्याओं के हल के लिए प्रयत्न करने चाहिए । इन समस्याओं तथा चुनौतियों को हल करने के लिए नवीन कार्यक्रमों, नये साधनों तथा नवाचारों पर कार्य करते हैं, प्रयोग करते हैं । इसी भाँति विद्यालयों द्वारा भिन्न-भिन्न तरीकों से शैक्षिक नवाचारों पर कार्य किया जाता है । समाज में परिवर्तनों के कारण विद्यालयों के सामने समस्यायें आती हैं । विद्यालयों में परिवर्तन पर आग्रह ही शैक्षिक नवाचारों पर विचार करने के अवसर प्रस्तुत करता है । शैक्षिक प्रशासक तथा नियोजक ही शैक्षिक समस्याओं तथा चुनौतियों का सामना करते हैं ।

सामान्यतया नवाचार से अर्थ लिया जाता है—परम्पराओं से हटना, कार्य सम्पन्न करने की रोज की विधियों से हटना, उनमें परिवर्तन करना । 'नवाचार शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनेरी' के अनुसार, का अर्थ है—नवीनताओं का समावेश, पूर्व से चली आई परम्पराओं में विकल्प की स्थापना नवीन अनुभव तथा सुस्थापित विधियों में परिवर्तन । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अपने एक प्रकाशन में नवाचार को इस प्रकार परिभाषित किया है । उसके अनुसार नवाचार का अर्थ है कि परम्परागत प्रक्रियाओं, विशेषतः दैनिन्दिन अनुभवों, नियमों तथा उनमे हेर-फेर ही नहीं वरन् उनमें उन पद्धतियों का उपयोग किया जाता है जो बड़े संयम तथा धैर्य के साथ किये गये वैज्ञानिक अध्ययन का फल होती हैं और जिनका उद्देश्य, लक्ष्य तथा साधन के बीच सर्वोपयुक्त सामन्जस्य स्थापित करना तथा यह सुनिश्चित करना होता है कि प्रत्येक प्रयत्न से सर्वाधिक फल मिले । इसी भाँति शैक्षिक नवाचार को शैक्षिक परिवर्तनों के महत्वपूर्ण घटक के रूप मे नये तत्व के समावेश के रूप मे एक प्रेरक शक्ति एवं सुस्थापित एवं परम्परागत रूप से भिन्न व्यावहारिक राय के रूप में परिभाषित किया जाता है ।

शिक्षा के क्षेत्र में नवाचार मूलतः प्रयोग के बाद एवं शिक्षा प्रणाली का अंग बनने के पहले की स्थिति है। यदि किसी तत्व, तकनीक, व्यवस्था या कारक का प्रभाव ज्ञात करने की योजना बनाई जाती है तो यह योजना ही प्रयोग कहलाती है। स्पष्ट है कि प्रयोग का क्षेत्र छोटा होगा। प्रयोग के अनुभव से लाभ उठा कर ही उसका क्षेत्र विस्तृत किया जायेगा। क्षेत्र को विस्तृत बनाने के पूर्व संशोधन, यदि कोई हो तो, किया जायेगा। शिक्षा के क्षेत्र में उत्साह जरा ज्यादा ही दीखता है, विचार-विमर्श तथा अनुभव के आधार पर उनकी सफलता के प्रति आश्वस्त ही रहा जाता है। फिर भी प्रयोग के रूप में समय सीमा तथा क्षेत्र का सीमांकन कर डर या सन्देह या अनिश्चय की स्थिति मिटा लेना चाहते हैं। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्रयोग सामान्य व्यवस्था से दूर हट कर कुछ नवीनता लिए हुए है, कार्य विधि में परम्परा से हट कर विचार किया गया है। प्रयोग से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रयोग पर आधारित परिवर्तन शिक्षा प्रणाली या व्यवस्था के अनुकूल रहेगा या नहीं। इस प्रकार पन्नालाल वर्मा (1983)[1] कहते हैं—"नवाचार शिक्षा प्रणाली के अंग बनाये जाने का पूर्वाभ्यास मात्र है।"

नवाचारों को प्रोत्साहित करने के लिए शैक्षिक उपयोगिता को प्रेरणा मानना ठीक है क्योंकि जब तक शैक्षिक उपयोगिता या लाभ की संभावना दिखाई नहीं देती तब तक शिक्षक या शिक्षण संस्था उन शैक्षिक नवचारों को कार्यरूप देने का निर्णय नहीं ले पायेंगे अर्थात उन शैक्षिक नवाचारों पर कोई भी कार्य करने की जोखिम नहीं उठायेंगे। स्पष्टतः अध्यापक को अपने काम में सुधार की ललक, शिक्षा का स्तर उन्नयन करने की उनकी जीवन अभिलाषा ही अध्यापकों को नवाचार की ओर प्रेरित करती है। दूसरे शब्दों में, अध्यापक को अपने काम के प्रति असंतोष हो, उन्हें सुधार की संभावनाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हों तथा उन संभावनाओं पर कार्य करने की दृढ़ इच्छा तथा निश्चय ही शिक्षा में नवाचार के लिए रीढ़ की हड्डी है। इस भांति शैक्षिक नवाचार शैक्षिक प्रगति का रथ माना जा सकता है।

---

1. डॉ. पन्नालाल वर्मा (राजस्थान में नवाचार: दशा और दिशा), शिविरा, बीकानेर : माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षा निदेशालय, जनवरी 1983, पृष्ठ 36।

शैक्षिक नवाचारों के माध्यम से श्रेष्ठ एवं मितव्ययी अध्यापन तकनीकें उपलब्ध कराना, शैक्षिक प्रशासन में परिवर्तन लाना तथा शिक्षण संस्था को जागरुक एवं गतिशील बनाये रखना है। शैक्षिक नवाचार का उद्देश्य अध्यापन-विधि, शैक्षिक प्रशासन, शैक्षिक नियोजन तथा शैक्षिक चिन्तन को अधिकाधिक बौद्धिक, तर्क संगत, सजग, सहज तथा उपयोगितावादी मानदण्डों पर अग्रसर करना है। शैक्षिक नवाचार अध्यापक को इस बात में मदद करता है कि उसके प्रयत्न बेकार न जाएँ तथा उसके प्रयत्नों का अधिकाधिक प्रतिफल मिले।

देश में समय-समय पर विभिन्न शैक्षिक नवाचारों पर कार्य किया गया है। कुछ नवाचार भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक साथ संयुक्त प्रयासों के रूप में शुरू किये गये हैं, उनकी भविष्य मे क्या स्थिति होगी ? इस पर भी विचार किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली के क्षेत्रीय सेवा प्रसार विभाग ने 1955 में एक मासिक पत्र "दि न्यू प्रेक्टिसेज इन स्कूल्स" नाम से शुरू किया था जो दुर्भाग्यवश अपने शिशुकाल में ही 1969 में बंद हो गया। भारत सरकार ■ शिक्षा मंत्रालय ने राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन महाविद्यालय की सहायता से 1970-71 में भी प्रान्तों में चल रहे 58 शैक्षिक नवाचारों का अध्ययन किया।

यहाँ यह स्पष्ट किया जाना उचित जान पड़ता है कि नवाचार तथा नये या ताजा विचारो (Innovations or New or Recent Trends) में कैसे भेद किया जायेगा ? किसको नवाचार कहा जाये तथा किसको नया विचार। नये या ताजा विचार सापेक्षिक शब्द हैं। नील के विद्यालय में मुक्त अनुशासन था, किसी प्रकार का आदेश विद्यार्थियों को नही दिया जाता था : शिक्षार्थी प्रकृति से ही सीखते थे, संभव है, यह विचार डूंगरपुर जिले की तहसील के किसी गाँव के लिये आज भी सैद्धान्तिक शैक्षिक नवाचार माना जाय। इसी भांति प्रधानाध्यापक वाक्पीठ, जो लगभग दो दशाब्दियों से राजस्थान मे कार्य कर रही है, उदयपुर जिले की भीम तहसील के किसी भी गांव के लिए शैक्षिक नवाचार नही है जबकि यह प्रधानाध्यापक वाक्पीठ का सम्प्रत्यय अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में नवाचार माना जा

---

1. वही।

सकता है। इस प्रकार किसे नवाचार माना जाय तथा किसे नहीं, इस पर देश तथा काल की दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए।

एक अन्य स्थान पर वर्मा बड़ी पीड़ा के साथ इन नवाचारों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए कहते है कि "कई नवाचारों का दम घुट चुका है, कई मृतप्राय: हैं, कुछ अतिसंरक्षण की पीड़ा भोग रहे हैं तो कुछ संबल के लिए तरस रहे है और कुछ शिक्षा प्रणाली का अंग बन चुकने के बाद भी अपना चोला नहीं छोड़ पा रहे हैं।"

शैक्षिक नवाचारों का वर्गीकरण

शैक्षिक नवाचारों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—

1. सैद्धान्तिक नवाचार।
2. संगठनात्मक नवाचार।

सैद्धान्तिक नवाचार :—इसका संबंध चिन्तन से है। यह कार्य हर शिक्षक के वश का नहीं है। इस बौद्धिक कार्य के लिए गिने चुने अध्यापक ही आगे आ सकेंगे। सैद्धान्तिक नवाचार का एक उदाहरण देखिए—आज परीक्षाओं में नकल करने की दुष्प्रवृत्ति बेहिसाब घर करती जा रही है, नकल करने को रोकने के लिए जो भी उपाय किये जाते रहे हैं वे सब असफल हो गये हैं। ऐसी स्थिति में यह सोचा जाने लगा है कि विद्यार्थी का मात्र उसको विद्यालय में उपस्थित रहने के दिनों की संख्या का प्रमाण पत्र दे दिया जाय तथा जो उसकी जीविका का काम दे रहे है, वह अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसकी परीक्षा ले लें। लोक सेवा आयोग भी तो अपने स्तर पर परीक्षाएँ आयोजित करता है।

संगठनात्मक नवाचार :—इन नवाचारो मे शिक्षण विधि या शिक्षा की सीढ़ी में परिवर्तनों को गिनाया जा सकता है; जैसे—व्यक्तिनिष्ठ अध्यायन 10+2+3 शिक्षा योजना या अभिक्रमिक अध्ययन।

कई बार नवाचारो का यह भेद स्पष्ट नहीं दीख पायेगा। किसी एक नवाचार को दोनो वर्गों में रखा जा सकेगा।

शैक्षिक नवाचारों के विभिन्न पक्ष

शैक्षिक नवाचारों पर विचार करते समय इनके विभिन्न पक्षों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

सामाजिक एवं मानवीय पक्ष :—इसमें संदेह नहीं कि शैक्षिक नवाचारों को अपनाने से तथा उन पर सफलतापूर्वक कार्य करने से शिक्षा से जुड़े विभिन्न वर्गों (शिक्षक प्रशासक, नियोजक, पर्यवेक्षक, चिन्तक आदि) में से किसी एक वर्ग को सम्मान मिल जाय या वह वर्ग अधिक प्रकाश में आ जाय । कुछ नवाचार मानवीय कल्याण के विरुद्ध भी माने जाने लगे हैं जैसे परीक्षाफलों का मशीनों पर तैयार होना—इसी भांति अभिक्रमित अध्ययन विधि अध्यापकों में यह भय पैदा कर रही है कि इससे तो अध्यापकों का प्रतिस्थापन हो सकता है—इससे अध्यापक बेकार हो जायेंगे । यह एक संदेह मात्र ही है जिसका अध्यापक तथा प्रशासक साथ बैठ कर धैर्य के साथ, संदेहों का निराकरण कर सही स्थिति समझाई जा सकती है ।

तकनीकी पक्ष :—शैक्षिक नवाचारों पर कार्य करते समय इस बात पर आग्रह रहता है कि वह सामान्य अध्यापक के उपयोग के लिए हो । वह इतना उलझनपूर्ण या तकनीकी पूर्ण न बन जाय कि उसको समझने के लिए भी एक चोटी की शिक्षा प्राप्त तकनीशियन की जरूरत पड़े । इसलिए कई बार प्रशासक यह कहते पाये जाते हैं कि नवाचार की योजना सब को समझ मे आने वाली हो तथा प्रभारी अध्यापक का स्थानान्तर होने पर भी उन पर कार्य जारी रखा जा सके तथा उस पर किया व्यय तथा मानवीय श्रम व्यर्थ ही न चले जाय। फिर भी यह तो नही कहा जा सकता कि सभी अध्यापक उसको समझ लेंगे । यह तो निश्चित रूप से मानना ही चाहिए कि नवाचारो पर कार्य करने के लिए सामान्य अध्यापक से ज्यादा सूझ-बूझ सांख्यिकी तथा शोध विधियों की जानकारी उसे होना ही चाहिए । इस प्रकार स्पष्ट है कि हर अध्यापक की अपनी-अपनी सीमाएँ है ।

वित्तीय पक्ष :—बिना पर्याप्त धन के शैक्षिक नवाचारों से जुड़ी योजनाओं पर कार्य नही किया जा सकता है । धन की कमी अच्छी से अच्छी योजना को गड़बड़ कर देती है । शैक्षिक नवाचार के कार्यक्रम, कुछ अंशों में, भारी धन की माग करते हैं जो कई बार सुविधा से उपलब्ध नहीं होता । योजनाधिकारियों का यह दायित्व है कि वे शैक्षिक नवाचारों के लिए पर्याप्त मात्रा मे धन उपलब्ध करावे । आजकल विभिन्न अभिकरण इस प्रकार के कार्यक्रमों के लिए उदारतापूर्वक धन देने लगे है, जिनमें प्रमुख है राज्य शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण सस्थान, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद, गाधी अध्ययन संस्थान, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग,

राष्ट्रीय सहकारिता महाविद्यालय, जन-जातीय अनुसंधान संस्थान, राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन महाविद्यालय, भारतीय बैंकिंग संस्थान, योजना आयोग आदि।

शैक्षिक नवाचारों की उपयोगिता

शैक्षिक नवाचार शिक्षा में परिवर्तन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं जो अन्त में सामाजिक परिवर्तन के जनक बनते हैं। दूसरे शब्दों में शिक्षा में नवीनताओं को स्वीकार करने योग्य नयी किस्म का नागरिक तैयार करती है। शैक्षिक शोध में नवाचार का प्रसारण एक नया क्षेत्र है, पर अभी उनकी नींव नहीं बन पाई है। शैक्षिक अनुसंधान-कर्त्ताओं को इस उभरते हुए क्षेत्र की ओर बढ़ना चाहिए। सामान्यतया शिक्षा का मूल उद्देश्य सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन के लिए मुख्य घटक माना जाता है। अन्ततः इनका लाभ, अधिकांशों में, विद्यार्थी समुदाय को ही मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि इस प्रकार के प्रयत्नों का न तो कोई विधिवत् मूल्यांकन हुआ है तथा न ही कोई शोध अध्ययन।

शैक्षिक नवाचारों के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत एवं सुस्पष्ट विचार करने पर ज्ञात होता है कि इससे शिक्षा से जुड़े सभी वर्गों को लाभ होता है चाहे वे शिक्षक हों या प्रशासक या पर्यवेक्षण अधिकारी। इससे मानवीय श्रम में कमी लाई जा सकती है, कम प्रयत्नों से अच्छे फलों की आशा की जा सकती है। फल नहीं देने वाले प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि मानवीय प्रयत्न तथा धन की बचत होने लगती है। इनके अपनाने से समाज के आर्थिक, तकनीकी ज्ञान एवं मानवीय श्रम का सर्वाधिक समुचित उपयोग होने लगता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शिक्षा में नवाचारों का प्रवेश शैक्षिक दृष्टि से लाभप्रद लगता है। अब तक लगभग 20—22 शोध अध्ययन (सभी प्रारंभिक प्रकृति के) शैक्षिक नवाचारों के क्षेत्र में हुए हैं। इन शोध अध्ययनों में प्रधानाध्यापक वाक्पीठ, शोध वाक्पीठ, सूक्ष्म अध्ययन, अभिक्रमित अध्ययन, प्रहर पाठशाला, विद्यालय संगम, कार्यअनुभव, विद्यालय योजना, रात्रि पाठशाला आदि सम्मिलित हैं। इन शोध अध्ययनों की अध्यापक उपयोगिता जानते हैं। साधारणतया इन कार्यों से विद्यालयों का सम्मान बढ़ता है तथा शैक्षिक उपयोगिता स्वयं स्पष्ट है। इन शोधों की उपयोगिता बहुवांशों में अध्यापकों द्वारा नवाचारों की स्वीकृति पर निर्भर है।

शैक्षिक नवाचारों संबंधी शोध की कठिनाइयाँ

नवाचारों के प्रसारण का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। नवाचारों को अध्यापकों ने किस सीमा तक स्वीकार कर लिया है या शिक्षा–प्रशासकों ने किसी सीमा तक उन पर विश्वास कर लिया है–यह एक पृथक शोध का विषय है जो काफी उलझनपूर्ण तथा तकनीकी पूर्ण है। नवाचारों की स्वीकृति पर सुस्पष्ट सूझ-बूझ पूर्ण शोध कार्य हाथ में लिया जाना चाहिए। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। अभिक्रमित-अध्ययन विधि के अपनाने से अध्यापक के प्रतिस्थापन की सभावना बढ जाती है। इस तथ्य को स्वयं शिक्षक किस सीमा तक स्वीकार करने को तत्पर हैं उनके उत्तरों से विकल्प इस प्रकार हो सकते है :—

1. निश्चित रूप से सहमत
2. सहमत
3. तटस्थ
4. असहमत
5. निश्चित रूप से असहमत

इसे पंच–बिन्दु मापनी कहा जाता है, इसे और अधिक विकसित किया जा सकता है। इसी तथ्य पर प्रशासकों की भी प्रतिक्रिया जानी जा सकती है तथा उनसे भी इन्हीं विकल्पों पर उत्तर लिये जा सकते है। इसी भाति शैक्षिक प्रशासन संबंधी नवाचार शिक्षक किस सीमा तक पसद करते है ? मान लीजिए शिक्षा प्रशासन मे सम्प्रेषण प्रणाली नीचे से ऊपर की ओर पुनर्गठित की जाय। अध्यापकों के उत्तरों के विकल्प यों बन सकते हैं :—

1. दृढ़ता से पसंद
2. पसंद
3. अनिश्चित्
4. नापसंद
5. दृढ़ता से नासंद ।

इस प्रस्तावित सम्प्रेषण प्रणाली को स्वय शिक्षा प्रशासकों द्वारा किस सीमा तक स्वीकार करने के लिए तत्परता है ? प्रथम उदाहरण मे दिये गये उत्तरों के विकल्पों को यहां भी काम में लाया जा सकता है। यहा यह स्मरणीय है कि जितने अधिक बिन्दुओं पर मापन होगा, मूल्याकन उपकरण की विश्वसनीयता उतनी ही अधिक बढ़ जायेगी।

फिर भी वैधता की समस्या तो बनी ही रहेगी क्योंकि भारतीय स्थितियों में प्रश्नावली या अनुसूची पर उत्तरदाताओं से सही उत्तरों की या उनके मन की सही बात की आशा नहीं की जा सकती तथा शोधकर्ता प्रत्येक शिक्षक मित्र के पास जाकर उनके व्यवहार का निरीक्षण नहीं कर सकता है। जो उत्तर प्रश्नावली या अनुसूची पर आप पाएं, संभव है, उत्तरदाता उनके अनुसार व्यवहार न करे। उसके लिए साक्षात्कार या निरीक्षण या अवलोकन का सहारा लिया जा सकता है। शैक्षिक नवाचार स्वयं उभरता क्षेत्र है। अत इस क्षेत्र में विधिवत शोध अध्ययन उतना ही और कठिन कार्य है, फिर भी इस चुनौती पूर्ण क्षेत्र में अब तक प्रारम्भिक प्रकृति के 20-22 शोध अध्ययन सम्पन्न हुए हैं जिनके विषय क्षेत्र ऊपर बताये गये हैं। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि शैक्षिक नवाचारों पर शोध कार्य करना बड़ी टेढ़ी खीर है—समय, धैर्य, सतत प्रयत्न तथा सहनशीलता की बड़ आवश्यकता होती है। हर शिक्षक हर दृष्टि से तैयार हो ही, यह जरूरी नहीं है।

शैक्षिक नवाचारों के क्षेत्र में शोध हेतु अधुनातन शीर्षक

शैक्षिक शोध कार्यकर्त्ताओं को निम्न क्षेत्रों में अपने प्रयत्नों को केन्द्रित करना चाहिए—

1. सम्प्रेषण प्रणालियां
2. अनुदेशन प्रणालियां
3. विद्यालय का संगठनात्मक वातावरण
4. प्राधिकारी का प्रत्यायोजन

इन विषयों पर आयु, लिंग, शैक्षिक योग्यता, अनुभव, पद की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।

5. नवाचारों की स्वीकार्य क्षमता
6. शिक्षकों/प्रधानाध्यापकों/प्रशासकों/पर्यवेक्षण अधिकारियों की नवाचारों के प्रति धारणा।
7. विद्यालयों में नवाचारों का प्रसार करने के लिए उत्तरदायी घटकों को जानना।

पारिस्थितिकी दी जा रही है, जिन
ता में काम करने वाले विभिन्न स्तरों के व्यक्ति अपनी रुचि के विषय पर कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं।

1. अविभक्त विद्यालय व्यवस्था
2. शिशु क्रीड़ा केन्द्र
3. पत्र वाचन संगोष्ठी
4. यूनिसेफ विज्ञान शिक्षण योजना
5 सामुदायिक शिक्षा
6. प्राथमिक शिक्षा हेतु व्यापक उपागमन
7. परीक्षा प्रणाली में नवाचार
8 समाजोपयोगी उत्पादन कार्य,
9. मल्टी-पाइन्ट एन्ट्री
10. विद्यालय एवं जिला शिक्षा योजनाएं
11. विद्यालय संगम
12. शिक्षानुसंधान वाक्पीठ
13. व्यापक आंतरिक मूल्यांकन योजना
14 नैदानिक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षा
15. स्वायत्तशासी विद्यालय
16. अनौपचारिक शिक्षा
17. प्रधानाध्यापक वाक्पीठ
18. क्रियाशील अवकाश
19. पुस्तकालय एवं वाचनालय सेवाएं
20. दलीय परिवीक्षण
21. कार्यानुभव
22. सीखो-कमाओ,
23. खेल-कूद
24. प्रौढ़ शिक्षा
25. रुरल इन्स्टीट्यूट्स
26. चल विद्यालय
27. मूक विद्यालय
28. योग शिक्षा
29. टेलिविजन द्वारा शिक्षा
30. शिक्षक अभिभावक संघ
31 कठपुतली द्वारा शिक्षा
32. दुपहर का भोजन
33. शिक्षण सामग्री एवं पोषाक का विद्यार्थी की उपस्थिति पर प्रभाव आदि-आदि

शैक्षिक नवाचारों का विरोध

सिद्धान्त रूप में इन नवाचारों के लाभों से परिचित होते हुए भी अध्यापक तथा प्रशासक दोनों ही कई बार इनका विरोध करते देखे जाते है। अब स्थितियां बदलने लगी हैं तथा सभी प्रशासक नवाचारों पर न्यूनाधिक रूप से ध्यान देने लगे हैं। ऐसा माना जा सकता है कि कुछ समय, जब तक संक्रमण काल रहेगा, नवाचारों को विरोध का सामना करना पड़ेगा क्योंकि शिक्षा से जुड़े किसी एक विशिष्ट वर्ग को हानि हो सकती है—यथा ऊपर के उदाहरण में परीक्षाफलों को तैयार करना। स्थितियों में

परिवर्तन आया है, पर आज भी अध्यापक नवाचारों को तत्काल अस्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं तो भी वे उसके प्रति उदासीन तो हैं ही नवाचारों पर कार्य करने के लिए सभी अध्यापक कुछ सीमा तक अपने आपको सक्षम नहीं पाते हैं। अध्यापकों के शैक्षिक नवाचारों के प्रति उदासीन होने या विरोध करने के निम्न कारण हो सकते हैं—

1. नवाचारो के अपनाने से कार्य सम्पादन की प्रक्रिया में परिवर्तन करना होगा, जिसके लिए वे तैयार नही हैं।
2. कुछ क्षेत्रो मे उदाहरणार्थ—परीक्षाफलो की तैयारी या अभिक्रमित अध्ययन (चाहे संदेह के कारण ही) यदि मशीनों का अध्यापकों से प्रतिस्थापन हो गया तो सेवा से पृथक कर दिये जायेंगे। इस प्रकार उन्हें रोजगार छीनने का डर होता है।
3. जहां मशीनो की सहायता ली जावेगी वहां अध्यापकों को अधिक तेज गति से कार्य करना होगा, फलतः उन्हें जल्दी थकान होगी एवं जीवनांश कम हो जायेगी।
4. नवाचार ने अच्छे फलों का श्रेय स्वयं अध्यापकों को मिलने के बजाय प्रशासकों, पर्यवेक्षण अधिकारियों, शैक्षिक-नियोजकों को मिल जायेगा तब वे क्यो व्यर्थ का झंझट मोल लें?

वास्तविकता यह है कि शैक्षिक—नवाचारो का विरोध शिक्षा से जुड़े विभिन्न वर्गों के सोचने-विचारने के पिछड़ेपन का परिणाम है। वे रोज जिस ढंग से सोचते विचारते हैं, कोई भी काम जिस ढंग से लम्बे समय से सम्पादित करते चले आ रहे हैं, उस लीक को छोड़ना नही चाहते, वे जोखिम उठाने को ही तैयार नही हैं—वे परम्परा से करते आये अपने तरीके से ही कार्य करने के लिए तैयार हैं। इसके सिवाय वे इस बात के लिए पूर्णतः आश्वस्त ही नही है कि परिवर्तित तरीके से कार्य करना अधिक लाभप्रद ही रहेगा।

सरकार ने सैद्धान्तिक रूप से शैक्षिक नवाचारो का सदैव समर्थन किया है। यद्यपि प्रशासक, पर्यवेक्षण अधिकारी कई बार शैक्षिक नवाचारो का सदैव विरोध इसलिए करते हैं कि सामान्य अध्यापक इन कार्यों के लिए अतिरिक्त धन, स्टेशनरी एवं खाली कालांश की माग करेंगे। न केवल इतना ही बल्कि कई बार अध्यापक अधिक शैक्षिक तथा तकनीकी योग्यता प्राप्त व्यक्ति से भेंट करने का आग्रह करेंगे जिससे उन्हें विद्यालय संचालन में बाधा पहुँचेगी।

प्रशासक पर्यवेक्षण अधिकारी जिस ढंग से काम कर रहे हैं, जिस व्यवस्था के वे अभ्यस्त हैं, उनमें परिवर्तन करना उनको अच्छा नहीं लगता । शैक्षिक नवाचारों का श्रेय वे अपने अधिनस्थ कार्य कर रहे अध्यापकों को देना नहीं चाहते, स्वयं कार्यालय के कार्य मे इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके पास इन कार्यों के लिए समय नहीं है । ऐसी स्थिति में न तो वे स्वयं कार्य करते हैं तथा न ही अपने अधिनस्थ कार्य कर रहे अध्यापको को इन कार्यों के लिए प्रोत्साहन देते हैं । शैक्षिक नवाचारों के प्रति उच्चाधिकारी यदि विरोध प्रकट करते हैं या तटस्थ रहते हैं तो यह उनके साहस के अभाव का ही सूचक माना जाना चाहिए ।

एक समय था जब शैक्षिक नवाचारों पर कार्य करने के लिए निजी शिक्षण संस्थाओं या गैर सरकारी अभिकरण अत्यधिक तत्परता बरतते थे । पर आज स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया है जो स्पष्ट दीखने लगा है । कई उच्च पदों पर आसीन अधिकारी स्वयं शैक्षिक नवाचारों को अपनाने, उन पर कार्य करने के लिए सभा-सम्मेलनों, कार्य-गोष्ठियों या कार्य-शालाओं में आग्रह करते देखे जाते हैं । पिछले 5-7 वर्षों में स्थितियों में भारी परिवर्तन आया है जो शिक्षा के क्षेत्र में शुभ लक्षण है । फिर भी प्रयत्नों का विस्तार अपेक्षित है । देश की शीर्षस्थ संस्था राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् ने तो नवाचारों पर किये कार्यों को मंगवाकर पुरस्कृत करना भी प्रारम्भ किया है । क्या यही सही रूप में प्रेरणा है ? वैसे लोक सेवा आयोग, राजस्थान, द्वारा होने वाली प्रधानाध्यापकों की प्राथमिक परीक्षा में नवाचारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । इससे इनकी उपयोगिता स्वयं स्पष्ट है और यदि शैक्षिक अधिकारी नवाचारों पर कार्य करने की गुंजाइश मानते हैं तो शीर्षस्थ अधिकारी नवाचारों को ऐसी स्थितियां पैदा करनी चाहिए कि अध्यापक, प्रशासक, पर्यवेक्षक अधिकारी, नियोजक, चिन्तक आदि सभी एक स्थान पर बैठकर शैक्षिक नवाचारों का क्षेत्र, अधिकार आदि सभी स्पष्ट कर एक मधुर ऐक्य एवं समरसतापूर्ण स्थिति पैदा कर सके ।

शिक्षा-शास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियां

न्यूनाधिक रूप से सभी देश अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शोध के निष्कर्षों का सहारा लेते है तथा यही कथन शिक्षा के क्षेत्र में भी समान रूप से व्यवहृत है । पिछले कुछ वर्षों से इस दिशा मे दृढ, संगठित एवं व्यवस्थित प्रयत्न किये गये हैं । इनमें प्रमुख हैं—उच्च अधिकारियों का प्रशिक्षण, अनुभूत अध्यापन विधियाँ, सुनियोजित सहगामी क्रियाएं, कार्यालय का वैज्ञानिक प्रबन्ध, कर्मचारियों एवं अधिकारियो को प्रोत्साहन एवं पुरस्कृत किया जाना, आदि-आदि । इन परिवर्तित प्रयासों के पर्याप्त आधार है : स्कूली बालकों की संख्या मे कई गुनी वृद्धि होना, शिक्षा की भूमिका मे परिवर्तन, शिक्षा के अर्थ का क्षेत्र विस्तृत होना, विद्यालय से अभिभावकों की अपेक्षाओं मे वृद्धि होना, आदि । बालकों की सख्या मे वृद्धि होने के फलस्वरूप विद्यालयो, शिक्षकों, अधिकारियों की सख्या मे भी वृद्धि हुई है जिससे उनके मानवीय सम्बन्धो मे अभूत-पूर्व परिवर्तन आया है तथा इनमे पेचीदगी बढ़ गई है । अब इन सम्बन्धों को वैज्ञानिक दृष्टि से सही परिप्रेक्ष्य मे समझने का प्रयत्न किया जाने लगा है । आज हर माता-पिता की यह अपेक्षा है कि बच्चा पुस्तकों का कम से कम भार उठाए, कम से कम समय मे अधिक से अधिक उपलब्धि व ज्ञान, कम खर्च एवं प्रयत्न मे प्राप्त करले ।

आज यह प्रयत्न इतना अधिक और क्रान्तिकारी रूप से विकसित हो गया है कि आज प्रायः पुराने लेखको की पुस्तके अपूर्ण मानी जाने लगी है तथा उनके समय मे नई पुस्तको के अभाव मे ये पुस्तकें ठीक रही होगी पर आज उनकी पुस्तकें विद्यार्थी समाज की आवश्यकताएं पूरी नही कर रही है । इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पुराने लेखक, शिक्षाविद्, अध्यापक बहुत पीछे रह गये हैं । पुराने शिक्षा-शास्त्री, या शिक्षा प्रशासक या शैक्षिक नियोजन कर्ता जिन सूचनाओ तथा तथ्यो के आधार पर निर्णय लेते थे, विचार-विमर्श करते थे, आज वे तथ्य व सूचनाएं ही बदल गई हैं, जैसे कक्षाध्यापन के सामान्य उद्देश्य । आज की स्थितियो मे यह सम्प्रत्यय समीचीन नहीं माना जाता है । भूगोल अध्यापन के उद्देश्य हिन्दी अध्यापन

के उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न हैं, फिर सामान्य उद्देश्य का प्रश्न ही कहां रहा ? सभी विषयों के अपने विशिष्ट उद्देश्य हैं।

शिक्षा की प्रशासनिक समस्याओं के हल करने में अनुभव पर आधारित परम्परा से चली आई निर्णय प्रक्रिया साधारण बोध, प्रशासनिक चातुर्य, सामान्य नेतृत्व, प्रत्युत्पन्न मति आदि पर आग्रह कम होता जा रहा है। आजकल परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन के साथ ही कर्मचारियों और अधिकारियों की सहभागिता का सिद्धान्त जोर पकड़ रहा है। यद्यपि ऐसा माना जाता है कि विकासशील देशों में जिस गति एवं मात्रा में परिवर्तन आना चाहिए, वह नहीं आ रहा है। सम्भवतः इसका कारण शिक्षा से जुड़े अधिकारियों एवं कर्मचारियों में खतरा न उठाने की प्रवृत्ति रही है और यह भी सम्भव है कि एक लम्बे समय से सोचने-विचारने के तरीके में बाहर निकल कर कल्पना ही नहीं कर रहे हैं।

शिक्षा में नवीन प्रवृत्तियों का विकास या नवाचार का अर्थ है—शैक्षिक परिवर्तनों के महत्वपूर्ण घटक के रूप में सुस्थापित एवं परम्परागत रूप से भिन्न नये तत्वों की प्रेरक शक्ति एवं व्यावहारिक रूप से स्थापित किये जाने वाले एवं परिभाषित किये जाने वाले प्रयास। तकनीकी दृष्टि से इसका अर्थ है—प्रशासनिक संगठन, कक्षाध्यापन एवं अध्यापन विधियों, तकनीकों, प्रक्रियाओं से सजगतापूर्वक नियोजित एवं व्यवस्थित सुधार। शैक्षिक नवाचार का सार यों बताया जा सकता है—एक ऐसी प्रवृत्ति की रचना या विकास करना जो लम्बे समय से चली आई व्यवस्था को आदर्श मानने को तैयार न हो और उसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन के अवसर एवं उपाय ढूँढती रहती है। जिसके फलस्वरूप कई बार ऐसे प्रश्न उठते रहते हैं कि क्या ऐसा करना आवश्यक ही है और यदि हाँ, तो इसके करने की सर्वोत्तम विधि या तकनीक क्या हो सकती है ?

शिक्षा के अर्थ की व्यापकता—

साधारण नागरिक की दृष्टि से शिक्षा का अर्थ ही बदल गया है। एक समय था जब शिक्षा को कक्षा में दिये गये अनुदेशन का ही पर्याय माना जाता था। बच्चा कक्षा में सीख रहा है या नहीं, विद्यालय समय में बच्चा आज्ञाकारी है या नहीं, उसकी सीखने की गति क्या है, पूरे समय कक्षा में रहता है या नहीं, आदि इसी प्रकार के प्रश्नों पर अध्यापक का ध्यान केन्द्रित

रहना था। आज शिक्षा का अर्थ बहुत विस्तृत एवं व्यापक माना जाता है तथा शिक्षा को विकासशील विषय (या अनुशासन) के रूप में लिया जाने लगा है। कोई भी तथ्य जो बालक की उपलब्धि को अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित करे, उसे शिक्षा में समाविष्ट किया जाने लगा है। बच्चे यदि कहना नहीं मानते हैं तो क्यों? स्थितियों में क्या व कैसे परिवर्तन किया जाय कि प्रवेश पाने वाले सभी बच्चे शिक्षा पूरी करके ही विद्यालय छोड़ें, अध्यापक बच्चों के कल्याण में अधिक रुचि लें, स्कूल भवन, क्रीड़ांगन तथा प्रयोगशालाओं का अधिक तथा गहन उपयोग कैसे किया जा सकता है, तकनीकी विकास के कारण शताब्दी या आधी शताब्दी बाद किस प्रकार के विद्यालय भवनों की आवश्यकता होगी, अभिक्रमित अध्ययन विधा के विकसित होने पर कक्षा-कक्षों में किस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो जायेगा? ये या इनसे जुड़े कई प्रश्न हैं जो आज से 40-50 वर्ष पूर्व शिक्षा के क्षेत्र से बाहर समझे जाते थे। पर आज शिक्षा का अर्थ ही बदल गया है तथा बालक के बेहतर हित में इन सब पर विचार किया जाने लगा है। आज शिक्षा शास्त्र कक्षा मे अनुदेशन तक ही सीमित नहीं है, उसमे मनोविज्ञान के साथ ही शिक्षा का दर्शन, शिक्षा का अर्थ-शास्त्र, शिक्षा का समाज शास्त्र, शिक्षा का विकास शास्त्र, शिक्षा का परामनोविज्ञान एवं शिक्षा की सांख्यिकी आदि भी सम्मिलित किये जाने लगे हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव व्यवहार के व्यापक क्षेत्र को समाविष्ठ करते हुए, शिक्षा शास्त्र विकासशील अनुशासन बन गया है तथा सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर है। यही कारण है कि शिक्षकों की तैयारी के कार्यक्रम को प्रशिक्षण कहने के बजाय अब शिक्षा कहा जाने लगा है। बेचलर ऑफ टीचिंग (बी. टी.) की जगह बेचलर ऑफ एज्यूकेशन तथा ट्रेनिंग कॉलेज की जगह कॉलेज ऑफ एज्यूकेशन कहा जाने लगा है।

विविध लक्षी विषय-सामग्री का समावेश

अब तक बालक को गिने-चुने विषय पढ़ा देना, गृह-कार्य देना, जाचना, परीक्षा लेना तथा परीक्षा-फलो की घोषणा ही विद्यालय-जीवन के प्रमुख कार्य-कलाप माने जाते थे। आज विद्यालय की इन क्रियाओं में अनगिनत वृद्धि हो गई है, जैसे विद्यालय संगम, बस व्यवस्था, विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियां, विभिन्न विद्यालयों में उपलब्ध विषय-संकाय, तथा उनकी प्रवेश-क्षमता, सरस्वती यात्राएं, केफेटेरिजा सेवा, प्रौढ़ शिक्षा या अनौपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक संस्थानों यथा बैंक, डाकघर, सरकारी समिति, मिल,

कारखानों का भ्रमण एवं प्रत्यक्ष ज्ञान छात्र संसद, प्रयोगशाला की देख-भाल, विद्यालय अभिलेख की देख-भाल एवं रख-रखाव, भवन मरम्मत, विद्यालय उद्यान, बागवानी तथा कृषि-फार्म, विद्यालय पत्रिका, शिक्षक-अभिभावक संघ, खेलों की व्यवस्था तथा प्रतियोगिता, इन कार्यों के लिए धन-संग्रह या जन सहयोग या चेरिटी शो। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बालक के सर्वांगीण विकास का प्रत्येक कार्य विद्यालय की गतिविधियों में गिना जाने लगा है। विद्यालयी शिक्षा के लक्ष्यों के अनुरूप इससे विषय सामग्री की विविधता के साथ ही क्षेत्र का विकास हुआ है।

पाठ्यक्रम की पुनर्रचना:

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। आज इन परिवर्तनों के फलस्वरूप शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा की विधियों, विद्यार्थियों की रुचियों—आवश्यकताओं एवं देश की अपेक्षाओं एवं आवश्यकताओं में भारी फेर-बदल हो गया है। फलतः शैक्षिक नियोजनकर्त्ता, शिक्षा-शास्त्री तथा शिक्षाविद् पाठ्यक्रम की पुनर्रचना के लिए मानस तैयार कर रहे हैं। आज प्राथमिक स्तर की शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के पाठ्यक्रम की पुनर्रचना का विचार जोर पकड़ रहा है। ऐसा करने के पीछे आशय यह है कि शिक्षा को जीवन से जोड़ी जा सके, उसे अधिक सारपूर्ण बनाया जाय।

अन्तः सेवा शिक्षा का विस्तार

पिछले कुछ समय से पूर्व से नियोजित शिक्षकों का अन्तः सेवा प्रशिक्षण शिविरों के माध्यम से अभिस्थापन किया जा रहा है जिससे वे अपने ज्ञान तथा अपनी विषय सामग्री को अद्यतन बना सके तथा अध्यापन विधियों तथा तकनीकों का अधुनातन ज्ञान प्राप्त कर सके। शिक्षक से प्रशासक या पर्यवेक्षण अधिकारी बनते ही उसे भिन्न प्रकार की प्रशासनिक विधि जानने की आवश्यकता होती है एवं उससे भिन्न प्रकार के कार्य के निष्पादन की अपेक्षा की जाती है। इसके लिए विभिन्न अभिकरण कार्य कर रहे हैं—शिक्षा महाविद्यालयों से जुड़े विस्तार सेवा विभाग, राज्यों में स्थापित शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान या परिषद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, राज्य लोक प्रशासन संस्थान एवं राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान। इनमें से अन्तिम पांच संस्थान उच्च स्तर के विशिष्ठ व्यावसायिक एवं प्रशासन सम्बन्धी पाठ्यक्रम सचालित करते हैं एव अन्तिम संस्थान का कार्य क्षेत्र तो भारत से बाहर पड़ोसी राष्ट्रों में भी फैला हुआ

है। विकसित देशों में इस प्रकार के पाठ्यक्रमों का बाहुल्य है। शिक्षा-प्रशासकों से अधिक उन्नत तथा व्यवस्थित तकनीकों का, व्यावसायिक कौशलों का तथा प्रशासनिक प्रणालियों के ज्ञान की अपेक्षा की जाती है तथा ये संस्थान अपने कार्यक्रम या पाठ्यक्रम इन्हीं अपेक्षाओं के अनुसार नियोजित करते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में जनसम्पर्क

आज शिक्षा का सम्बन्ध केवल छात्र, उसके माता-पिता तथा उसके अध्यापक से ही नहीं रह गया है वरन् शिक्षा के बारे में इन सबके सिवाय शिक्षाविद, सामाजिक कार्यकर्ता, सामान्य जनता, शिक्षा प्रशासक एवं शिक्षा नियोजक आदि सभी रुचि लेने लगे हैं। शिक्षा संस्थान अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों का जनसम्पर्क अधिकारी द्वारा सामान्य जनता में प्रचार करती है। यही कारण कि विश्व-विद्यालयों में जनसम्पर्क अधिकारियों के पदों का सृजन किया जाने लगा है। ये जनसम्पर्क अधिकारी दोहरी भूमिका निभाते हैं—शिक्षा से जन-प्रतिनिधि, गणमान्य व्यक्ति, लोकप्रिय व्यक्ति तथा जननेता क्या अपेक्षाएँ रखते हैं, जनसम्पर्क अधिकारी यह जानकारी प्राप्त कर सम्बन्धित अधिकारियों को पहुँचाते हैं जिससे उनको अपने कार्यक्रमों का मूल्यांकन कर उनमें संशोधन करने में सरलता होती है। शिक्षा की नवीन योजनाओं तथा विद्यालयों की समस्याओं से जन-साधारण को परिचित करा कर उनसे सहयोग प्राप्त करना आज की परिस्थितियों में अपरिहार्य हो गया है। छात्रों को समाज के आदर्शों, सिद्धान्तों, मूल्यों, विचारधाराओं तथा दर्शन से परिचित कराने के लिए विशिष्ठ व्यक्तियों के व्याख्यान तथा वैज्ञानिकों कलाकारों, साहित्यकारों एवं समाज सुधारकों के प्रयोगात्मक कार्यों की जानकारी देने के लिए प्रसार भाषण-मालाओं का आयोजन किया जाने लगा है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के माध्यम से अब जन-कल्याण की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इस दृष्टि से सभी शिक्षा संस्थानों में जनसम्पर्क अधिकारी के पद का सृजन न्यायोचित लगता है।

विभिन्न विभागों में समन्वय

बालचर, राष्ट्रीय सेवा योजना, रेडक्रास सोसायटी, एन.सी.सी., वाई. एम. सी. ए. जैसा संगठन तो अभिन्न रूप से शिक्षा संस्थानों से जुड़े हुए ही हैं ये संगठन राष्ट्र एवं समाज हित की विचारधारा विद्यार्थियों में विकसित करते हैं आज स्थिति यह है कि विद्यार्थियों को शिक्षा उपयोगी रूप में तभी दी जा सकती है, जबकि शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न संगठनों में

समन्वय हो। इन विभिन्न संगठनों या विभागों को इस प्रकार से गिनाया जा सकता है — राज्य या राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् या संस्थान, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, विश्व-विद्यालय, साहित्य अकादमी, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग, उद्योग विभाग, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नियोजन विभाग, समाज कल्याण विभाग, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् तथा संस्कृति विभाग आदि। प्रत्येक विभाग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शिक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक विभाग या संगठन या अभिकरण की गति-विधियों तथा क्रियाओं को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित करें एवं उनसे जीवन्त सम्बन्ध बनाये रखें। ऐसा करने से निस्सन्देह विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का समुचित विकास किया जा सकता है। इसलिए इन सब विभागों का समन्वय विद्यार्थियों के बेहतर हित के लिए उपयोगी है।

व्यावहारिक अध्ययनों पर बल—

अब तक शोध कार्य उपाधि प्राप्त करने की दृष्टि से ही किये जाते रहे हैं, उपाधि प्राप्त करने के बाद वे शोध ग्रन्थ पुस्तकालय की अलमारियों में बन्द हो जाते थे। अब इस दृष्टिकोण में बदलाव आया है। शोध के क्रियात्मक पक्ष पर बल दिया जाने लगा है। शोध कार्य में स्वयं शिक्षक को भाग लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जाने लगा है क्योंकि वह ही कक्षा में अध्यापन में गुणात्मक सुधार के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है एवं वही शोध का सही उपभोक्ता है। इससे वह स्वयं शोध निष्कर्षों के प्रकाश में अपनी कार्यविधि में संशोधन एवं परिवर्तन कर सके। शुद्ध तात्विक शोध की अपेक्षा कक्षा-कक्ष की गतिविधियों में सुधार की शोध योजनाओं पर प्रमुखता से ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसी योजनाओं में क्षेत्रिय एवं लैंगिक भेद के आधार पर बालकों की उपलब्धि, गृह कार्य, बुद्धिकरण, कक्षा-कक्ष में समायोजन, शिक्षकों के साथ व्यवहार विद्यालय की सम्पत्ति के प्रति ममत्व एवं विनय का सम्प्रत्यय प्रमुख है। पिछले कुछ महीनों से मानवीय मूल्य के विकास के तरीके एवं साधनों पर भी ध्यान दिया जाने लगा है। इन्हीं सब बातों के लिए शिक्षक को मनोवैज्ञानिक परीक्षणों को प्रयोग करने का प्रशिक्षण दिया जाने लगा है। ये सब इस प्रकार के शोध के प्रयत्न हैं कि अध्यापक स्वयं अपना अन्तर्दर्शन कर सकता है, अपनी समस्या का निर्धारण कर हल खोजने को तत्पर बन सकता है, यदि कहीं कमी दिखती है तो वह सुधार करने को स्वतन्त्र है। इससे स्वयं शिक्षक अपने स्थान के प्रति आश्वस्त

हुग्रा है तथा शोध के निष्कर्षों से लाभ उठाने की ललक उसके मन में लगी है।

अन्तर्विषय अनुसंधानों पर बल—

क्रियात्मक अनुसंधान के साथ ही इस बात का प्रभाव स्पष्ट होने लगा है कि बालक को न तो अलग-अलग पढ़ाया जा सकता है तथा न ही बालक को ज्ञान थोड़े-थोड़े अन्तराल में दिया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि बच्चों को पढ़ाते समय उनकी समग्र स्थिति-भाई-बहिनों की शिक्षा, संगी-साथियों का स्तर, माता-पिता की माली हालत आदि सभी बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिये। इसी भाँति किसी विषय उदाहरणार्थ नागरिक शास्त्र पढ़ाते समय उसका सामाजिक संदर्भ छोड़ देना वांछनीय नहीं होगा। मान लीजिए बच्चों की उपलब्धि न्यून है। इस पर शोध कई चरणों में तथा कई स्तरों पर की जायेगी तभी समस्या को सही रूप में पहचान कर हल किया जा सकेगा। मनोवैज्ञानिक उसकी बुद्धिलब्धि जांच रहे हैं, समाजशास्त्री उनकी पारिवारिक स्थिति पर ध्यान रखे हुए हैं, निर्देशन कार्यकर्ता घर पर पढ़ने लिखने की सुविधाओं तथा माता-पिता की सहायता पर ध्यान दे रहे हैं, विषयाध्यापक देख रहे हैं कि बच्चे को किस विषय में तथा किस विशिष्ट प्रकरण में सर्वाधिक मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, यदि समस्या और भी गम्भीर हुई तो सहायता की और भी दिशाएँ खोजी जा सकती हैं। घर पर आरामदायक फर्नीचर उपलब्ध है या नहीं, हवादार प्रकाश वाला कमरा है या नहीं, बच्चा आवश्यकतानुसार नींद ले पा रहा है कि नहीं, कहीं परिवार के बड़े सदस्य जमीन या अन्य किसी प्रकार के मुकदमों में तो फंसे हुए नहीं हैं, क्योंकि ये सभी बातें भी न्यूनाधिक रूप से बालक की उपलब्धि को प्रभावित करती हैं। यदि ऐसा है तो इन्जीनियर, डाक्टर तथा वकील से भी सहायता ली जा सकती है। इन सब प्रयत्नों का आधार यह है कि बालक के हित में एक से अधिक मस्तिष्क स्पष्ट एवं कारगर सोच-विचार कर सकते हैं। इससे दिन-प्रतिदिन अन्तर्विषयी शोध के जोर पकड़ने का आधार एवं क्षेत्र स्पष्ट होता है।

तुलनात्मक शिक्षा पर आग्रह—

जब शोध विभिन्न चरों को समाविष्ट कर उनका प्रभाव देखा जाता है तो सहज ही जिज्ञासा बनती है कि किस चर या तथ्य का अधिक प्रभाव

है। मध्यापक के पास विभिन्न प्रकार की सूचनाएं एवं तथ्य होते हैं, वह उनमें तुलना करके देखता है, पता लगता है कि अमुक समस्या के लिए कौनसा उपचार अधिक कारगर या प्रभावी सिद्ध हो रहा है। परीक्षाओं में सामूहिक नकल प्रायः सभी शिक्षाधिकारियों तथा परीक्षा नियन्त्रकों के लिए सिरदर्द बनी हुई है। भारत में इस प्रवृत्ति के विकास के लिए बाह्य परीक्षा के प्रमाण-पत्र या उपाधि पत्र को अत्यधिक महत्व देता रहा है । इस समस्या के हल के लिए जरूरी है कि जहाँ-जहाँ यह समस्या पाई जाती है, उन देशों से इस समस्या के लिए उत्तरदायी कारणों की जानकारी प्राप्त की जाय तथा प्राप्त निष्कर्षों के प्रकाश में कदम लिये जाएँ। उदाहरण के लिए भारत की तुलना में यह समस्या अमेरिका में कम गम्भीर है तो वहाँ इसके लिए उत्तरदायी कारण हैं—संस्था का आन्तरिक मूल्यांकन, सत्र में एक से अधिक बार मूल्यांकन, शिक्षार्थी के बारे में संस्था प्रधान की राय सूचक निष्पक्ष टिप्पणी। इसी आधार पर भारत में भी आन्तरिक मूल्यांकन तथा सिमेस्टर प्रणाली पर निरन्तर जोर दिया जा रहा है । मोटे रूप से यह मानने के पर्याप्त आधार हैं कि शिक्षा के तुलनात्मक अध्ययन से शिक्षार्थी के सोचने-विचारने का क्षेत्र विस्तृत होता है तथा वह सहिष्णु बनता है। कुछ विश्वविद्यालयों में तो तुलनात्मक शिक्षा को इतना अधिक महत्व दिया जा रहा है कि एम. एड. स्तर पर इसका एक अनिवार्य प्रश्न पत्र ही जोड़ दिया गया है, उदाहरण—हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय।

विज्ञान के रूप में शिक्षा शास्त्र—

अब तक शिक्षा को कला माना जाता है । अमुक मूल्यों का विकास किया जाना चाहिए—व्यक्तित्व के विकास के समय अमूक घटकों पर आग्रह किया जाना चाहिए—इस भाँति अब तक शिक्षा पर आदर्शात्मक रूप में ही विचार किया गया है । शिक्षा शास्त्र में किसी भी घटना या तथ्य या उप विषय का विधिवत क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है, इस अर्थ में शिक्षा शास्त्र को विज्ञान ही कहा जाना चाहिए । पर न केवल इतना ही, पाश्चात्य देश तो इससे भी कहीं आगे बढ गये हैं । एक दशक से पाश्चात्य देशों में शिक्षा को चिकित्सा, अभियान्त्रिकी, अपराध-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञानों के समान ही विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने के क्षेत्र में बहुत प्रयत्न हुए हैं । मुख्यतः अध्यापन कार्य में शिक्षा के निष्णात, पाठोपस्थापना की तकनीक, खोजपूर्ण प्रश्न, छात्रों की पहल का लाभ

उठाना, छात्रों को सीखने के लिए उत्प्रेरित करना, पाठ का प्रभावी प्रस्तुतीकरण, विद्यार्थियों की अधिगम में सहभागिता, प्रश्न की तकनीक, छात्रों से वांछित उत्तर प्राप्त करना, श्याम पट्ट लेखन, पाठान्त की कुशलता आदि कौशलों, दक्षताओं, चातुर्यों, सद्गुणों तथा तकनीकों का बनने वाले अध्यापकों में उनके प्रशिक्षण के दौरान विकास किया जाने लगा है। भारत में भी इस प्रकार के छुट-पुट प्रयत्न शिक्षा के प्रगत अध्ययन केन्द्र बड़ोदा तथा अन्य स्थानों पर हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आने वाले समय में शिक्षा को विज्ञान ही माना जायेगा, फिर भले ही वह आदर्शात्मक विज्ञान ही हो।

शिक्षा का स्वतंत्र विषय (अनुशासन) के रूप में उभरना—

व्यापक क्षेत्र को समाविष्ठ करती हुई विविधता पूर्ण अनुभवों पर आधारित/आश्रित विषय सामग्री, क्रियात्मक अनुसंधान, विज्ञान के रूप में शिक्षा शास्त्र, अन्तर्विषयी शोध निष्कर्ष पिछले दो दशकों से एक स्वतंत्र विषय के रूप में प्रतिष्ठा पाने को उत्सुक है। कुछ विश्वविद्यालयों मे शिक्षा शास्त्र को पृथक संकाय के रूप मे मान्यता मिल गई है पर अन्य शेष विश्वविद्यालयों ने इसे पृथक संकाय के रूप में न मानते हुए कही कला सकाय में तो कही समाज-विज्ञान संकाय में ही समाविष्ठ कर रखा है। शिक्षा शास्त्र को जोधपुर एवं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय मे क्रमशः कला एवं समाजविज्ञान संकाय में समाविष्ठ है। देश मे स्कूल शिक्षा के कुछ बोर्डों ने शिक्षा को अपने पाठ्यक्रम मे स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थान दिया है। यही स्थिति कुछ विश्वविद्यालयो के स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो के लिए भी कही जा सकती है। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र, अलीगढ़, आगरा, कानपुर, गौहाटी, कलकत्ता आदि विश्वविद्यालयो मे स्नातक परीक्षा के विषयों में शिक्षा भी एक विषय सहित स्नातक यदि चाहे तो दो-वर्षीय अधिस्नातक शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम भी अध्ययन के लिए चुन सकते हैं। पर इन पाठ्य-क्रमों का उद्देश्य कौशल-युक्त निष्णात अच्छे अध्यापक उपलब्ध कराना कदापि नहीं है। इतिहास या समाजशास्त्र या भूगोल या अर्थशास्त्र मे एम. ए. पास व्यक्ति बैंक मे या अन्यत्र लिपिक बन सकता है या अन्य प्रतियोगी परीक्षा में बैठ सकता है। ठीक इन्हीं सब विषयो की भाँति शिक्षा शास्त्र में एम. ए. पास व्यक्ति भी अध्यापक पद के साथ ही अन्य सभी पदो के लिए भी समान रूप से पात्र है। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि

शिक्षा शास्त्र विषय की सामग्री में अभूतपूर्व विस्फोट हुआ है, ऐसी स्थिति में उसके स्वतंत्र विषय बनने की पूरी-पूरी संभावना भी उजागर हुई है। एक समय था जब इस विषय की सामग्री को अंगुलियों पर गिना जा सकती था तथा समाज विज्ञानों में शिक्षा को उच्च विषय (अनुशासन) होने का स्तर न दिये जाने के पीछे एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त का अभाव ही था, परन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। यद्यपि शिक्षा में वैज्ञानिक अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अभी नहीं है एवं शैक्षिक शोध को जनसाधारण से स्वीकृति भी नहीं मिल पाई है। फिर भी शिक्षा से जुड़े लोगों को शिक्षा शास्त्र को एक विषय के रूप में उदारता एवं विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

शिक्षा की वैकल्पिक व्यवस्थाएं—

आज यह निश्चित मान लिया गया है कि शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था भारत से निरक्षरता नहीं मिटा सकती। निरक्षरता के उपचार के रूप में वैकल्पिक व्यवस्थाएं सोची गई हैं—अंशकालीन शिक्षा, पत्राचार पाठ्यक्रम, दूरस्थ शिक्षा, शिक्षा के मुक्त संस्थान, शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयास, प्रौढ़ शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा की मद पर व्यय की राशि, शिक्षितों की संख्या तथा इनकी शिक्षा के स्तर पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया जाता है। कोई जरूरी नहीं कि हर शिक्षार्थी नियमित रूप से निश्चित समय पर स्कूल में ही पढ़े, सभी विषयों की परीक्षा दे तथा पास भी हो। शिक्षा के इस औपचारिक बन्धन से शिक्षार्थी को मुक्ति देने की आवाज बल पकड़ रही है। किसी निश्चित समय में निश्चित पाठ्यक्रम पढ़ कर सभी विषयों में परीक्षा पास करना जरूरी नहीं हो, ऐसी व्यवस्था भारत के लिए अधिक हितकर हो सकती है, जिसमें शिक्षार्थी अपनी रुचि के विषयों में अपनी गति से अपने फुर्सत के समय में पढ़ कर कुशलता प्राप्त करले, इसे ही शिक्षा की अनौपचारिक व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था में एक ही छात्र अपनी उपलब्धियों के अनुसार प्राप्त समय में उदाहरणार्थ छठी कक्षा की अंग्रेजी, नवीं कक्षा की हिन्दी, पांचवी कक्षा की भूगोल, दसवी कक्षा की गणित तथा सातवी कक्षा का इतिहास एक ही साथ पढ़ सकते हैं। इस प्रावधान को मल्टीपाइन्ट एन्ट्री की संज्ञा दी गई है। कुछ अंशों में भारत में इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता मानी जा रही है। निरक्षरता समाप्त करना ही इन सभी व्यवस्थाओं के मूल में है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा शास्त्र का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है फलत: इसके स्वरूप तथा अर्थ में भी परिवर्तन आया है।

आज शिक्षा से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हरेक बात इसमें सम्मिलित की जाने लगी है। आने वाले समय में जीवन और पेचिदा होने वाला है तब शिक्षा की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होगी। शान्ति, निःशस्त्रीकरण, स्वचालन, उत्तरदायित्व, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, भाईचारा एवं नगरीकरण आदि के लिए शिक्षा महत्व प्राप्त कर लेगी। शिक्षा के क्षेत्र में जनसंख्या विस्फोट तथा उसका नियन्त्रण अस्वास्थ्यकर उत्पादनों पर रोक–थाम भी बचा नहीं पायेंगे। इसीलिये शिक्षा से सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में भी सफल भूमिका की अपेक्षा की जाती है। शिक्षा शास्त्र के एक सामान्य विद्यार्थी के रूप में इन भूमिकाओं के निर्वहन के लिए निस्सन्देह नागरिक में नवीन गुणों एवं क्षमताओं की जरूरत होगी। आज शिक्षा के बदलते हुए अर्थ तथा विकसित होते हुए क्षेत्र को देख कर स्वयं अनुशासन के रूप में शिक्षा शास्त्र के "विकास तथा निर्माण" की पर्याप्त एवं उज्ज्वल सम्भावना की आशा की जाती है।

शिक्षा प्रशासन का परिवर्तनशील सम्प्रत्यय

"यदि शिक्षा प्रत्येक कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती है तो फिर शायद ही ऐसा कोई कार्य हो जो शिक्षा कर सके।"

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जेम्स मिल

जेम्स मिल द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के इस दूरगामी सत्य का महत्व पिछले कुछ ही वर्षों से अनुभव किया जा रहा है। इससे पूर्व तक शिक्षा प्रशासन को—जिस पर न केवल किसी राष्ट्र का कल्याण, प्रगति, विकास एवं उन्नति निर्भर करती है बल्कि सम्पूर्ण विश्व की सुख-समृद्धि निर्भर करती है—केवल शाब्दिक महत्व ही दिया गया है।

शिक्षा प्रशासन का सम्प्रत्यय दिन प्रतिदिन तीव्र गति से बदल रहा है, वह दिन प्रतिदिन नया अर्थ ले रहा है। पिछले समय मे, सामान्यतया एक अनुभवी अध्यापक किसी भी संस्था के शैक्षिक कार्यक्रमों का नियोजन करता था। उनका कार्य-व्यवहार, निर्णय प्रक्रिया, कार्य सम्पन्न करने की तकनीक आदि शिक्षा के किन्हीं ठोस सिद्धान्तो या दार्शनिक आधारो पर आश्रित होने के बजाय उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजों तथा जन-विचारधाराओं से संचालित होते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उस समय का शिक्षा प्रशासन मात्र एक व्यक्ति की सर्वाधिक उच्च योग्यता के अनुसार नीतियों का निर्धारण तथा योजनाओं का क्रियान्वयन करना था।

कालान्तर में समय बीतने के साथ-साथ इस सम्प्रत्यय की अनपयुक्तता प्रकाश मे आई तथा प्रशासनिक अधिकारियों ने अनुभव की। किसी व्यक्ति के मन की चपलता या तरंगो के अनुसार प्रशासन में तानाशाही प्रवृत्ति की झलक मिलती है, इसलिए शिक्षा प्रशासन में उसे कोई स्थान नही दिया जाना चाहिए। आगे चल कर यह अनुभव किया गया कि शिक्षा प्रशासन एक विशिष्ट प्रकार की गतिविधि या सेवा या प्रक्रिया है जिसके सफल संचालन के लिए सुप्रशिक्षित सेवीवर्गीय अधिकारियों की आवश्यकता होती है।

शिक्षा प्रशासन के अर्थ को लेकर शिक्षाविदों में मत-विभिन्नता है, कोई भी दो शिक्षा शास्त्री समान राय नहीं रखते है। इस आलेख में शिक्षा प्रशासन के बदलते हुए सम्प्रत्यय पर विचार करने का विनम्र प्रयास किया गया है। यदि इस दिशा में निरन्तर प्रयत्न होते रहे, विचार मंथन के फलस्वरूप शिक्षा प्रशासन के अर्थ पर किसी प्रकार एक मत पर पहुँचा जा सके, समन्वय हो सके तो प्रशासनिक संस्थितियो से जुड़े हुए विभिन्न घटकों की सूची बनाना सम्भव हो सकता है। उस स्थिति मे शैक्षिक प्रशासनिक कार्यों का अधिक सुगमता से अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ यह बताना रुचिपद होगा कि वर्तमान शताब्दी से पूर्व तक शिक्षा प्रशासन को चरम सीमा का साधारण, सीधा, स्पष्ट एवं सरल कार्य माना जाता था।

आर्डवेटीड़ (1951) के अनुसार प्रशासन का अर्थ कार्यों की सम्पन्नता है। उनके द्वारा दी गई परिभाषा न केवल प्रशासन का अर्थ ही बताती है बल्कि वह अच्छे व बुरे प्रशासन के भेद को समझने के योग्य भी बनाती है। जब वे कहते हैं कि—"किन्हीं परिभाषित उद्देश्यों के वैयक्तिक या सामूहिक रूप मे आदेश जारी करने, सुविधाओं के जुटाने के संयुक्त प्रयासों के फलस्वरूप होने वाली अनिवार्य गतिविधियों तथा कार्यों के आयोजन को प्रशासन कहते हैं।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि अच्छे प्रशासन में पूर्व परिभाषित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सामूहिक या संयुक्त प्रयासों पर आग्रह रहता है। ग्रीफीथ की सम्मति के अनुसार—

(अ) प्रशासन व्यवहार की सामान्य प्रक्रिया है जो प्राय. सभी संगठनों में पाई जाती है।

(आ) प्रशासन एक विधि के रूप में सामाजिक संगठन मे जीवन को नियन्त्रित तथा निर्देशित करता है।

(इ) प्रशासन का केन्द्रीय उद्देश्य निर्णय प्रक्रिया को विकसित करना तथा ढंग से संचालित करना है।

(ई) प्रशासन समूहों में—वैयक्तिक रूप से नहीं—कार्यशील होता है।

शिक्षा प्रशासन का अर्थ बताते हुए पिटनगर लिखते है कि शिक्षा प्रशासन विद्यालय में नियुक्त कर्मचारियों का चयन, नियुक्ति तथा कार्य

निर्धारण है भोर विद्यालय से सम्बन्धित व्यक्तियों—कर्मचारी—अधिकारी, छात्र, छात्र संसद के सदस्य, समाज के सदस्य, अभिभावक– के बीच समन्वय तथा नेतृत्व करना है जिससे उचित तथा सक्षम शिक्षा की दिशा में नीतियो का निर्माण, क्रियान्वयन तथा उन्नयन हो।

शिक्षा प्रशासन का ध्येय, सर ग्राहम बालफोर के अनुसार, उपयुक्त विद्यार्थी को सही अध्यापक से राज्य के साधनों की सीमा में, उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थितियों मे कम से कम व्यय पर सही शिक्षा प्रदान करना है जिससे विद्यार्थी का अधिकाधिक अधिगम हो। शिक्षा प्रशासन को इससे भी भोर अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, यदि शिक्षा प्रशासन के उद्देश्यों का विस्तृत विश्लेषण कर लिया जाय। बहुत ही सीधे शब्दों में बताया जा सकता है कि शिक्षा प्रशासन का अर्थ अधिगम एवं अध्यापन की सुविधाएँ जुटाना है। शिक्षा प्रशासन का तात्पर्य, केम्पबेल, कोराबेली तथा रामसीयर के अनुसार—"अध्यापन एवं अधिगम से सम्बद्ध बुनियादी उद्देश्यों तथा नीतियों के विकास को सहज ही सचालित करना है, अधिगम तथा अध्यापन के लिए उपयुक्त कार्यक्रमों के विकास को सम्वर्द्धित करना है एवं अधिगम तथा अध्यापन के लिए भौतिक तथा मानवीय संसाधनों को प्राप्त करना तथा उनकी व्यवस्था करना है।" रसेल टी. ग्रेग (1960) शैक्षिक शोध के विश्लेषण मे दिये अपने प्रशासन सम्बन्धी लेख में इससे भी एक कदम भागे बढ़कर करते हैं भोर सम्मति देते हैं कि शैक्षिक प्रशासन वयस्कों की बढ़वार (ग्रोथ) से भी सम्बन्ध रखता है। वे लिखते है कि शिक्षा प्रशासन साधन एवं सामग्री को इस प्रकार से उपयोग करने की विधि है जो मानवीय गुणो के विकास को प्रभावी रूप से अग्रसर करे। इसका सम्बन्ध न केवल बालकों एवं युवाओं के विकास से है वरन् यह वयस्को भोर मुख्यतः विद्यालय के सेवीवर्गीय कर्मचारियो एवं अधिकारियों के विकास से भी सम्बन्ध रखता है।

फ्रेडरिक टेलर, हेनरी फायल, मेरी पार्कर फोलेट, एल्टन मेयो भोर चेस्टर बर्नार्ड ने प्रशासन को प्रबन्ध (मेनेजमेण्ट) से पृथक न करने पर विचार किया तथा इन्होंने प्रशासन को वैज्ञानिक प्रबन्ध के रूप में लिया। वैज्ञानिक प्रशासन में सगठन के ढाचे या आकार (स्ट्रक्चर) पर तथा संचालन मे दक्षता प्राप्ति के लिए सेवीवर्गीय कर्मचारियों तथा अधिकारियो के औपचारिक सम्बन्वो पर आग्रह किया। केफनवर आगे जोड़ते है कि

वैज्ञानिक प्रशासन तक आपत्तिजनक नहीं है जब तक प्रशासकीय समस्याओं पर वे अर्थ पूर्ण तथा सही सूचनायें उपलब्ध करवाने का प्रयास न करें। यदि सूचनाओं को बढ़ा–चढा कर महत्व नही दिया गया तथा सूचनाओं से जुड़ी अल्प महत्वपूर्ण स्थितियों की उपेक्षा न कर दी गई।

आनन्द डब्ल्यू पी. गुरूज (1971) की राय के अनुसार आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक का शिक्षा प्रशासन में उपयोग कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। एक सब से बड़ी कठिनाई तो यही है कि जन–प्रशासन के एक अंग के रूप मे केवल शिक्षा प्रशासन मे ही आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक प्रयोग नहीं की जा सकती। वे आगे स्पष्ट करते हैं कि जहां तक शिक्षा प्रणाली के अन्तिम फलों (प्रोडक्ट्स) का प्रश्न है, शिक्षा प्रशासकों तथा व्यापार वाणिज्य व्यवसाय के प्रमुखो में कोई सम्बन्ध नही है। लेकिन इसके दूसरी ओर, जे. एन कपूर ने कार्यकारी शोध के आधार पर शिक्षा तथा उद्योग के क्षेत्र के महत्वपूर्ण अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि नये सम्प्रत्ययों की रचना में कार्यकारी शोध के निष्कर्षों के उपयोग पर आग्रह रहना चाहिए। संगठन प्रबन्धकीय तकनीक की अपेक्षा एक प्रक्रिया है। इसे शैक्षिक क्षेत्र में व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

ग्राइडर तथा रोशन स्टेनगेल के अनुसार–"सार्वजनिक शाला प्रशासन जन प्रशासन के बृहद क्षेत्र का ही एक अंग है फिर भी लोकतन्त्र में सभी सार्वजनिक सेवाओं में शिक्षा का महत्व तथा स्वरूप विशिष्ठ है। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आदर्श रूप में स्वीकृत शाला प्रशासन के गुणात्मक लक्षण, सार्वजनिक शिक्षा के कार्य, प्रक्रियाओं तथा उद्देश्यों के समतुल्य हो।

यहां यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रबन्ध का कार्य नीति निर्धारण का नहीं बल्कि नीतियो के अनुसार क्रियान्वयन का है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध सदैव ही शिक्षा प्रशासन में ठोस धरातल पर आधारित नही है फिर भी यह दर्शन या विचारधारा कुछ उद्देश्यो को तया करता है, मदद करता है। तीयर्स शिक्षा प्रशासन में पांच मुख्य एवं महत्वपूर्ण तत्वों को स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार बताये जाते हैं :—

1. आयोजन,
2. संगठन,
3. निर्देशन,

4. समन्वय तथा
5. नियन्त्रण ।

फ्रेडरिक टेलर की राय के अनुसार आयोजना तथा क्रियान्वयन को पृथक-पृथक रखा जाना चाहिए था। वे आगे दृढ़ता से कहते हैं कि यदि दोनों को सम्मिलित किया गया तो गुणात्मकता की दृष्टि से निष्पादित कार्य निम्न-स्तर का होगा और न ही समय पर पूरा होगा। इस सम्बन्ध में वे स्पष्ट हैं तथा इस मत के पक्षधर हैं कि आयोजना समयबद्ध होनी चाहिए तथा उत्पाद या निष्पादित किये जाने वाले कार्य से सम्बन्धित अन्य सूचनाओं का वैज्ञानिक रीति से निर्धारण हुआ हो तथा क्रमबद्ध या व्यवस्थित ढंग से वर्गीकृत की गई हो। इन प्रस्तावित कार्यों में प्रमापीकृत साधनों, उपकरणों तथा विधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है एवं इन सब का प्रमापीकरण भी किया जा सकता है। प्रबन्ध कामगारों या कर्मचारियों से ले लिया जाना चाहिए। वैज्ञानिक सोच-विचार से कार्य विधि की रचना निश्चित की जानी चाहिए तथा उसी के अनुसार कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इन सब कार्यों में समन्वय पर अत्यधिक आग्रह रहना चाहिए। हेनरी फायल ने भी बराबर वैज्ञानिक प्रबन्ध पर जोर दिया है। पूर्व के चिन्तकों ने कर्मचारियों के साथ तथा बाद के चिन्तकों ने प्रबन्धकों के साथ कार्य किया। पर यह सही है कि दोनों श्रेणी के चिन्तकों ने व्यक्तियों पर ध्यान नहीं दिया जिनकी कार्य या सेवा के निष्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

मेरी पार्कर फोलेट ने प्रशासन के माध्यम से कल्याणकारी समाज (हारमोनियस सोसायटी) के लिए प्रयत्न किया। ये इस बात की प्रबल समर्थक थी कि सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रत्येक कर्मचारी को पूर्ण रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा प्रशासन में धन, भवन, क्रीडांगन प्रयोगशालायें, पुस्तकालय तथा उपकरण आदि के प्रबन्ध पर ही विचार नहीं किया जाता है वरन् इसका क्षेत्र मूलतः कल्याणकारी मानवीय सम्बन्धों का विकास है जो सूत्र तथा अभिकरण (लाइन एण्ड स्टाफ) के रूप में छात्र-छात्र, छात्र-अध्यापक, अध्यापक-प्रधानाध्यापक, छात्र-प्रधानाध्यापक, छात्र-लिपिक, लिपिक-प्रधानाध्याप[illegible]
उच्चाधिकारी, प्रधानाध्यापक-बोर्ड के [illegible]
अभिभावक-शिक्षक तथा इसी भांति [illegible]
विभिन्न अभिकरणों के बीच विकसित होते हैं

वैज्ञानिक प्रशासन तब आपत्तिजनक नहीं है जब तक प्रशासकीय समस्याओं पर वे अर्थ पूर्ण तथा सही सूचनायें उपलब्ध करवाने का प्रयास न करें। यदि सूचनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर महत्व नहीं दिया गया तथा सूचनाओं से जुड़ी अल्प महत्वपूर्ण स्थितियों की उपेक्षा न कर दी गई।

आनन्द डब्ल्यू पी. गुरूज (1971) की राय के अनुसार आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक का शिक्षा प्रशासन में उपयोग कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। एक सब से बड़ी कठिनाई तो यही है कि जन-प्रशासन के एक अंग के रूप में केवल शिक्षा प्रशासन में ही आधुनिक प्रबन्ध की तकनीक प्रयोग नहीं की जा सकती। वे आगे स्पष्ट करते हैं कि जहां तक शिक्षा प्रणाली के अन्तिम फलों (प्रोडक्ट्स) का प्रश्न है, शिक्षा प्रशासकों तथा व्यापार वाणिज्य व्यवसाय के प्रमुखों में कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन इसके दूसरी ओर, जे. एन कपूर ने कार्यकारी शोध के आधार पर शिक्षा तथा उद्योग के क्षेत्र के महत्वपूर्ण अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि नये सम्प्रत्ययों की रचना में कार्यकारी शोध के निष्कर्षों के उपयोग पर आग्रह रहना चाहिए। संगठन प्रबन्धकीय तकनीक की अपेक्षा एक प्रक्रिया है। इसे शैक्षिक क्षेत्र में व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

ग्राइडर तथा रोशेन स्टेनगेल के अनुसार—"सार्वजनिक शाला प्रशासन जन प्रशासन के बृहद क्षेत्र का ही एक अंग है फिर भी लोकतन्त्र में सभी सार्वजनिक सेवाओं में शिक्षा का महत्व तथा स्वरूप विशिष्ठ है। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आदर्श रूप से स्वीकृत शाला प्रशासन के गुणात्मक लक्षण, सार्वजनिक शिक्षा के कार्य, प्रक्रियाओं तथा उद्देश्यों के समतुल्य हो।

यहां यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रबन्ध का कार्य नीति निर्धारण का नहीं बल्कि नीतियों के अनुसार क्रियान्वयन का है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध सदैव ही शिक्षा प्रशासन में ठोस धरातल पर आधारित नहीं है फिर भी यह दर्शन या विचारधारा कुछ उद्देश्यों की सेवा करता है, मदद करता है। सीयर्स शिक्षा प्रशासन में पांच मुख्य एवं महत्वपूर्ण तत्वों को स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार बताये जाते हैं :—

1. आयोजन,
2. संगठन,
3. निर्देशन

करता है तो क्या वे व्यवहार में प्राप्त किये जा सकेंगे या कार्यशील होंगे ? क्या उन्हें सामान्यतः सभी व्यक्ति या कर्मचारी स्वीकार कर लेंगे ? वास्तविकता यह है कि इन प्रश्नों का उत्तर चारों ओर के सांस्कृतिक वातावरण पर निर्भर करेगा, निश्चित रूप से इन प्रश्नों का उत्तर शून्य में नहीं दिया जा सकता। इन प्रश्नों के उत्तर राज्य के कर्त्तव्यों के दर्शन जो संबंधित राज्य में समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप निश्चित किये जायेंगे, पर बुनियादी रूप से निर्भर करेंगे।

प्रजातन्त्र में उन सभी संगठनों के मोटे-मोटे उद्देश्य विधान सभाएं निश्चित करती हैं जो सीधे राज्य के नियन्त्रण में हैं तथा स्वयं-सेवी संगठनों के उद्देश्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रजातान्त्रिक समाज में चाहे सार्वजनिक या निजी क्षेत्र हो या मिश्रित क्षेत्र हो, शैक्षिक प्रशासन को प्रबन्ध का पर्याय तो किसी भी रूप में नहीं कहा जा सकता। आर.सी. शर्मा (1968) बताते हैं कि इसका एक अपरिहार्य फल यह है कि कोई भी शैक्षिक प्रशासक बताये गये शैक्षिक उद्देश्यों तथा नीतियों के सन्दर्भ में ही उनकी सीमाओं में रहते हुए, कार्य करते हैं। इससे उसका कार्य बड़ा पेचीदा, उलझनपूर्ण तथा कठिन हो जाता है। वास्तव में, अपने संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहायता के प्रथम कदम के रूप में उनका सार्थकतापूर्ण विवेचन करना है, समझना है। तब प्रश्न उठता है कि क्या वह अपने विवेचन को अपने सहकर्मियों, अधिनस्थों व अन्य संबंधितों को सम्प्रेषण की सुविधा की दृष्टि से लिपिबद्ध करता है ? क्या वह इन सभी संबंधितों से बिना परामर्श किये शून्य में ऐसा कर सकता है ? क्या व्यवहार में ऐसा करना शिक्षा निदेशक (या लोक शिक्षण निदेशक/डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शन) के लिए सम्भव है ? क्या यह सम्भव हो सकता है कि शैक्षिक उद्देश्यों तथा उनकी प्राथमिकताओं पर शिक्षा निदेशक तथा भिभावक एकमत हों या सहमत हों ? अच्छे भविष्य की आशा वाला कोई प्रशासन इन सब मत विभिन्नताओं से दूर रहने का प्रयास करेगा या की उलझन में नहीं पड़ेगा या नहीं पड़ना चाहेगा—कुछ सीमा तक हम प्रत्येक इसी दृष्टिकोण से सोचते हैं। वे शैक्षिक उद्देश्यों तथा नीतियों विचन करें, ऐसा नहीं होगा। वास्तव में व्यवहार में यही सब कुछ ९ है कि शैक्षिक उद्देश्यों को बिना स्पष्ट किये यों ही बीच में छोड़ जाता है।

अब तक हुआ यह है कि सभी शिक्षाविदों व शिक्षा-प्रशासकों ने मानवीय सम्बन्धों को भुला दिया है, उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। एल्टन मेयो यह दृढ़ता से स्वीकार करते हैं कि उपयुक्त मानवीय सम्बन्ध ही प्रशासन की आत्मा है, मूलाधार है।

चेस्टर बर्नार्ड ने प्रबन्धकीय समस्याओं एवं अमूर्त सिद्धान्तों पर विचार किया, अध्ययन किया। समस्याओं का गहराई से अध्ययन करने के लिए भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जुड़े व्यक्तियों से, बहुत बड़ी संख्या में, परामर्श किया। उसने सात भाषण सहकार, कर्तव्य (करणीय), औपचारिक संगठन, समन्वित मानवीय प्रयत्नों के पेचीदा या उलझनपूर्ण तथा सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किये। उन्होंने सुझाव दिया कि फल की प्रभावशीलता (इफेक्टिवनेस) (विध्योन्मुखी) (सिस्टम ऑरियन्टेड) पाई जाती है जबकि निपुणता (एफीसियन्सी) (मानवोन्मुखी) (परसन-ऑरियन्टेड) होती है, जो कर्मचारी की कार्य में सफलता की भावना से सम्बन्ध रखती है। यह सफलता की मात्रा वह अपने संगठन का सदस्य रहते हुए प्राप्त करता है। संगठन के किसी सदस्य के रूप में एवं वैयक्तिक रूप से सन्तुष्ट होने पर संगठन के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति की आशा की जा सकती है।

के. पी. बसु के अनुसार प्राधिकारों के प्रत्यायोजन का अर्थ त्याग या कार्यों में रुकावट नहीं है। साथ ही प्राधिकारों के प्रत्यायोजन का अर्थ उच्चाधिकारी के अधिकारों की कटौती भी कदापि नहीं है। प्राधिकारों का प्रत्यायोजन करने वाला अधिकारी प्रत्यायोजन करने के बाद भी कार्य के प्रति जवाबदेही के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होता है। यद्यपि संगठन की बाह्य तथा आन्तरिक निरन्तरता या दृढ़ता की मात्रा के मापन के विश्वसनीय तथा वस्तु-निष्ठ साधन या उपकरण उपलब्ध नहीं है, फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरणों में, विभिन्न तथ्यों से निष्कर्ष निकाले जा सकते है, प्राप्त किये जा सकते हैं।

क्या शिक्षा प्रशासन को पथ प्रदर्शन का या नीति-निर्धारण का कार्य करना चाहिए? क्या शिक्षा प्रशासन को संगठन के उद्देश्यों या लक्ष्यों का निर्धारण करना चाहिए? या नहीं करना चाहिए? यदि ऐसा नहीं किया जाय तो क्या इसे दिये गये लक्ष्यों या उद्देश्यों के प्राप्ति के क्रियान्वयन हेतु निर्णय लेने चाहिए? यदि प्रशासन ही लक्ष्यों, उद्देश्यों या ध्येयों का निश्चय

करता है तो क्या वे व्यवहार में प्राप्त किये जा सकेंगे या कार्यशील होंगे ? क्या उन्हें सामान्यतः सभी व्यक्ति या कर्मचारी स्वीकार कर लेंगे ? वास्तविकता यह है कि इन प्रश्नों का उत्तर चारों ओर के सांस्कृतिक वातावरण पर निर्भर करेगा, निश्चित रूप से इन प्रश्नों का उत्तर शून्य में नहीं दिया जा सकता। इन प्रश्नों के उत्तर राज्य के कर्तव्यों के दर्शन जो संबंधित राज्य में समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप निश्चित किये जायेंगे, पर बुनियादी रूप से निर्भर करेंगे ।

प्रजातन्त्र में उन सभी संगठनों के मोटे-मोटे उद्देश्य विधान सभाएं निश्चित करती हैं जो सीधे राज्य के नियन्त्रण में हैं तथा स्वयं-सेवी संगठनों के उद्देश्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रजातान्त्रिक समाज में चाहे सार्वजनिक या निजी क्षेत्र हो या मिश्रित क्षेत्र हो, शैक्षिक प्रशासन को प्रबन्ध का पर्याय तो किसी भी रूप में नहीं कहा जा सकता। आर.सी. शर्मा (1968) बताते हैं कि इसका एक अपरिहार्य फल यह है कि कोई भी शैक्षिक प्रशासक बताये गये शैक्षिक उद्देश्यों तथा नीतियों के सन्दर्भ में ही उनकी सीमाओं में रहते हुए, कार्य करते हैं। इससे उसका कार्य बड़ा पेचीदा, उलझनपूर्ण तथा कठिन हो जाता है। वास्तव में, अपने संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहायता के प्रथम कदम के रूप में उनका सार्थकतापूर्ण विवेचन करना है, समझना है। तब प्रश्न उठता है कि क्या वह अपने विवेचन को अपने सहकर्मियों, अधिनस्थों व अन्य संबंधितों को सम्प्रेषण की सुविधा की दृष्टि से लिपिबद्ध करता है ? क्या वह इन सभी संबंधितों से बिना परामर्श किये शून्य में ऐसा कर सकता है ? क्या व्यवहार में ऐसा करना शिक्षा निदेशक (या लोक शिक्षण निदेशक/डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) के लिए सम्भव है ? क्या यह सम्भव हो सकता है कि शैक्षिक उद्देश्यों तथा उनकी प्राथमिकताओं पर शिक्षा निदेशक तथा अभिभावक एकमत हों या सहमत हों ? अच्छे भविष्य की आशा वाला कोई भी प्रशासन इन सब मत विभिन्नताओं से दूर रहने का प्रयास करेगा या इनकी उलझन में नहीं पड़ेगा या नहीं पड़ना चाहेगा—कुछ सीमा तक हम में से प्रत्येक इसी दृष्टिकोण से सोचते हैं। वे शैक्षिक उद्देश्यों तथा नीतियों का विवेचन करें, ऐसा नहीं होगा। वास्तव में व्यवहार में यही सब कुछ हो रहा है कि शैक्षिक उद्देश्यो को बिना स्पष्ट किये यों ही बीच में छोड़ दिया जाता है।

क्या विषय सामग्री का ज्ञान ही संगठन के प्रशासन की मूलभूत दुर्बोध एवं कठिन समस्या है ? विषय सामग्री की गम्भीरता को यदि प्रशासन ठीक ढंग से देखता है या वांछित महत्व देता है तो मूलभूत समस्या भी सुलझाई जा सकती है। चूंकि शिक्षा के एक विशिष्ठ संगठन में समस्या का हल विषय का एक पारखी, शैक्षिक प्रशासक के रूप में शिक्षाविद् ही खोज सकता है, अत. निष्कर्षतः संगठन की कार्यक्षमता को हानि पहुंचा कर प्रशासक को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित करने का खतरा नहीं उठाना चाहिए। एक विशिष्ट क्षेत्र के प्रशासक को, दूसरे शब्दों में, तब तक अपनी पसंद के अन्य क्षेत्र में स्थानान्तरित नही किया जाना चाहिए जब तक कि वह उस सगठन की विषय सामग्री, उद्देश्य एवं कार्य के बारे में विस्तृत एवं गहन ज्ञान प्राप्त न करले।

सम्भवतया संगठन के प्रशासन का ज्ञान बिना व्यावसायिक औपचारिक प्रशिक्षण के प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः यह कहना युक्ति-संगत लगता है कि संगठन का व्यावसायिक तथा औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही अच्छा दक्ष एवं कुशल प्रशासक बन सकता है। इस दृष्टि से भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य अधिकारी एक अच्छा योग्य एवं समझदार शिक्षा निदेशक या लोक शिक्षण निदेशक नही बन सकता। चूंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में सुचारु रूप से पूरी तरह से परिचित है, विशिष्टता प्राप्त है, पर जब तक वह शैक्षिक कार्यों के संबंध में प्रशिक्षण प्राप्त न करले तो निश्चित रूप से अच्छा शैक्षिक प्रशासक नही बन सकता है। इसी तरह यदि एक शैक्षिक कार्यों, शैक्षिक गतिविधियों का गहन ज्ञान या प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षाविद् प्रशासन की विधियों का सांगोपांग ज्ञान प्राप्त करले तो उसके भी निश्चित रूप से अच्छे शैक्षिक प्रशासक बनने की सम्भावना उजागर होती है। वास्तविकता यह है कि एक अच्छे शैक्षिक प्रशासक में मूल-भूत शैक्षिक समस्याओं को समझने तथा हल करने की योग्यता होती है तथा साथ ही वह प्रशासनिक प्रक्रिया का निष्णात अधिकारी होता है।

इसके सिवाय विचारकों का एक ऐसा दल फेयोल, सीयर्स आदि का है जो सभी संगठनों, उदाहरणार्थ-उद्योग, व्यवसाय, जन प्रशासन कारखाना, शिक्षा, समाज कल्याण, पानी, बिजली आदि सभी के लिए समान प्रशासनिक विधि प्रक्रिया का समर्थक है। उनका ऐसा विश्वास है कि प्रशासनिक प्रक्रिया

में कुशलता प्राप्त व्यक्ति किसी भी संगठन का प्रशासन कर सकता है। पर आज इस विचारधारा को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। ऐसे व्यक्ति, जिन्हें मूल्यांकन का पूरा ज्ञान नहीं है, शिथिल टिप्पणियां देते देखे जाते हैं।

आज लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादित "पोस्डकर्ब" का सिद्धान्त महत्वपूर्ण माना जाता है तथा सम्मान प्राप्त कर रहा है। "पोस्डकर्ब" शब्द कुछ शब्दों के प्रथम अक्षरों के मिलने से बनता है, जैसे :—

आ	(पी)	आयोजना	(प्लानिंग)
सं	(ओ)	संगठन	(आर्गेनाइजेशन)
का	(एस)	कार्मिक व्यवस्था	(स्टाफिंग)
दि	(डी)	निदेशन	(डाइरेक्शन)
स	(सी)	समन्वय (या नियन्त्रण)	(कोर्डिनेशन)
प्र	(आर)	प्रतिवेदन	(रिपोर्टिंग)
ब	(बी)	बजट तैयार करना	(बजटिंग)

उनके अनुसार प्रशासन के क्षेत्र में आयोजना, संगठन बनाना, कार्मिक व्यवस्था, निदेशन, समन्वय (या नियन्त्रण), प्रतिवेदन तथा बजट आदि को समाविष्ठ किया गया है। तनिक विचार कीजिए कि शिक्षा में आयोजन की बहुत सारी विधियां तथा तकनीकें कारखाना या उद्योग या पानी बिजली के आयोजन से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिये, शैक्षिक नियोजन के क्षेत्र में शिक्षण संस्थान में निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित करने के लिये प्रधानाचार्य को अपने साथी अध्यापकों तथा छात्रों के सुझावों पर न केवल ध्यान देना है बल्कि उनका पालन भी करना है। क्योंकि इस कार्यक्रम के मुख्य उपभोक्ता तो विद्यार्थी ही हैं तथा अध्यापकों को उनकी उच्चतम उपलब्धि के लिए उनका मार्ग-दर्शन करना है। विद्यालय प्रधान को आयोजना इस प्रकार करनी है कि सभी को सहभागित्व मिल सके, उनका सहयोग प्राप्त किया जा सके जब कि किसी उत्पादक संस्थान में ऐसी व्यवस्था संभवतया नहीं की जा सकती। यहां तक की साधनों के आवंटन, विषय सामग्री के ज्ञान तथा उद्देश्यों के निर्धारण की आयोजना सम्बन्धी सर्वमान्य विधियों तथा तकनीकों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसी भांति एक संगठन

में कार्य को कार्यकारी इकाइयों में बांटने सम्बन्धी विभागीय तकनीकों की अपेक्षा विषय सामग्री का ज्ञान निश्चित रूप से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कार्य के वर्गीकरण का अर्थ शैक्षिक सेवाओं का संयोजन से लिया जाना चाहिए जैसे कि शिक्षण, निर्देशन, स्वास्थ्य सेवायें पुस्तकालय सेवायें, मार्ग-दर्शन, व्यावसायिक सूचना, खेलों की व्यवस्था आदि। जो भी हो, व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में इसे सही नही कहा जा सकता। इन बातों के सिवाय भी, आदेश की प्रकृति एवं उद्गम छात्र-शिक्षक, शिक्षक-लिपिक, छात्र-लिपिक, छात्र-प्रधानाध्यापक, प्रधानाध्यापक-अध्यापक, प्रधानाध्यापक-लिपिक सम्बन्ध आदि सूत्र एवं अभिकरण (लाइन एण्ड स्टाफ) के सम्बन्धों, विद्यालय का दैनिक कार्य विभाजन, समय-विभाग चक्र तथा कक्ष-व्यापन बिना अच्छी शैक्षिक पृष्ठभूमि वाले आचार्य-प्रधानाध्यापक सहज रूप में एवं प्रभावी ढंग से सम्पन्न नही कर सकता। ऐसा ही फल वहां भी प्राप्त किया जा सकता है जहां प्रशासक ख्याति प्राप्त शिक्षाविद् तो है पर शैक्षिक कार्यों के मूल्यांकन, उनके नियन्त्रण, आयोजन, संगठन एवं निर्देशन की तकनीक में अकुशल है। इस निष्कर्ष से इस बात को बल मिलता है कि शिक्षा प्रशासन एक विधि, प्रक्रिया एवं साधन है जो शिक्षा की मूलभूत समस्याओं को हल करने में सहायक होता है।

एक विवादास्पद बिन्दु है—क्या प्रशासन विशुद्ध विज्ञान है या विशुद्ध कला या विज्ञान तथा कला दोनों, या बेहतर रूप में कला तथा व्यावहारिक विज्ञान? यह विवाद नया नहीं है। कला या विज्ञान किसी एक के पक्ष में निश्चय के साथ कुछ भी नही कहा जा सकता है। किसी भी कलाकार के लिये ज्ञात तथ्यों के आधार पर तथा सभी प्रशासकीय तथ्यों को पृथक करते हुए इस सम्बन्ध मे कुछ सीमा तक कुछ निर्णय कला की विधि द्वारा अन्तर्ज्ञान तथा आत्म-दर्शन के आधार पर ही लिये जायेंगे। श्रीधर नाथ मुकर्जी की भी इसी प्रकार की सम्मति है जब वे कहते है कि — 'ज्ञान की अन्य शाखाओं के समान ही, प्रशासन की यह नई शाखा विज्ञान की अपेक्षा कला के अधिक निकट है।" वे आगे कहते हैं कि 'वास्तव में यह सही है कि कोई भी शैक्षिक प्रशासक अपने कार्य-कलाप उन मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर सम्पन्न करते हैं जो वे संगठन में मानवीय अनुभवों को संकलन कर, उनका अध्ययन एवं विश्लेषण कर-आगमन विधि द्वारा प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिक भी इन्ही सिद्धान्तों पर कार्य करते हैं। जो

यह किया जा रहा है कि प्रशासन को व्यावहारिक समाज विज्ञान के रूप में विकसित किया जाय। ऐसा लगता है कि शिक्षा प्रशासन को अभियान्त्रिकी, तकनीकी या फार्मेसी के समान व्यावहारिक प्राकृतिक विज्ञान नहीं बनाया जा सकता है।

इन दिनों शिक्षा प्रशासन का क्षेत्र विस्तृत बनता जा रहा है। अब तक इसे शिक्षा देने के अभिकरण के रूप में माना जाता था। पर आज शिक्षा प्रशासन में विद्यार्थी का चयन, उसका प्रवेश, विद्यालय की आय एवं व्यय के साधन एवं मदें, बजट तैयार करना, अध्यापकों की हड़ताल, समय विभाग चक्र बनाना, पाठ्यक्रम का निर्धारण, पाठ्य-पुस्तकों की प्राप्ति, सहगामी क्रियायें, मूल्यांकन प्रक्रिया, अध्यापकों के कार्य का परिवीक्षण, उनके लिये प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम, विशिष्ट विषयों की शिक्षण व्यवस्था, छात्र कल्याणकारी सेवायें, बस सर्विस, कैफेटेरिया, मार्ग-दर्शन, सहकारी भण्डार, स्वास्थ्य सेवायें छात्रावास आदि सभी को समाविष्ट किया जाता है। शिक्षा प्रशासन के विद्यार्थी को इन सभी पहलुओं पर अध्ययन करना होता है। सभी शिक्षा अधिकारी कई विशिष्ट विषयों के अध्यापन का परिवीक्षण करने के लिए सक्षम तथा उपयुक्त नहीं होते, उदाहरणार्थ—संगीत, कृषि, विज्ञान, गणित, चित्रकला आदि। फलतः इन विषयाध्यापकों को उपयुक्त मार्ग दर्शन नहीं मिल पाता। इस दोष या कमी को दूर करने के लिए दलीय परिवीक्षण पर जोर दिया जा रहा है। इस दल में वरिष्ठ एवं ख्याति प्राप्त प्रधानाध्यापक एवं लम्बी अवधि वाले अध्यापक सम्मिलित किये जाते हैं। जहां तक सम्भव होता है, शिक्षा अधिकारी इस दल के संयोजक होते हैं। दल में सम्मिलित विभिन्न सदस्य अपने-अपने विषय क्षेत्र के निष्णात एवं विशिष्टता प्राप्त शिक्षक होते हैं। इस सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) की राय है कि स्वास्थ्य शिक्षा, गृह-विज्ञान, चित्रकला, संगीत आदि विशिष्ठ विषयों के परिवीक्षण का कार्य निदेशालय को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इन विषयों के निष्णात अध्यापक वे अपने स्तर पर ढूंढ कर दल बनाले जो समय-समय पर भिन्न-भिन्न विद्यालयों का परिवीक्षण करें तथा अध्यापन में स्तारोन्नयन का सूत्रपात हो। इनके सिवाय विद्यालयों में समय-समय पर कई विशिष्ठ प्रकार के आयोजन होते रहते हैं, गतिविधियां चलती रहती हैं, उदाहरणार्थ, आपातकाल के लिये प्रशिक्षण, नामांकन अभियान, वृक्षारोपण—ये तथा

इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम भी शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र में सम्मिलित किये जाते हैं। शिक्षा प्रशासन को इन पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना होता है।

शिक्षा प्रशासन के विषय क्षेत्र में शिक्षा सम्बन्धी सभी तथ्य, योजनायें, नीतियाँ, कार्य प्रणालियाँ, कर्मचारियों को दिये गये निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण, विभिन्न प्रतिवेदन एवं शिक्षा से सम्बन्धित बजट तैयार करना आदि बातें आती हैं। शिक्षा प्रशासन का सम्बन्ध यदि एक ओर मानवीय तत्वों, यथा शिक्षार्थी, शिक्षक, निरीक्षक, उच्चाधिकारी एवं पालक आदि से है तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध भौतिक तत्वों से यथा · विद्यालय भवन, वित्त, सामग्री, प्रयोगशाला एवं खेल के उपकरण, फर्नीचर तथा अन्य साजसज्जा से भी है। शिक्षा की प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी बातें शिक्षा प्रशासन की सामग्री हैं। इस दृष्टि से शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र में निम्नलिखित तथ्य भी सम्मिलित हैं :—

(अ) शिक्षा के उद्देश्यों, आदर्शों, मूल्यों, सिद्धान्तों आदि को व्यक्ति तथा समाज के हित मे निर्धारित करना,

(आ) समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के अनुसार सभी विद्यार्थियों के लिये शैक्षिक कार्यक्रमों की योजनाएँ बनाना और उनको क्रियान्वित करना,

(इ) शिक्षा संस्थानों में उपलब्ध भौतिक तथा मानवीय साधनों में समन्वय स्थापित करना, तथा

(ई) सम्पूर्ण शिक्षा की प्रक्रिया की सफलता हेतु सजग प्रयास करना तथा

(उ) समय-समय पर किये गये प्रयासों का मूल्यांकन करना।

कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) ने इस बात पर बल दिया है कि "निरीक्षण तथा परिवीक्षण को भिन्न-भिन्न अर्थों में लिया जाना चाहिए।...... जिला शिक्षा अधिकारी तथा उसके सहयोगियों को अपने सभी प्रयास उपयुक्त परिवीक्षण के लिये केन्द्रित करने चाहिए जिससे अध्यापन मे सुधार हो, शिक्षकों को समय पर आवश्यकतानुसार मार्ग-दर्शन मिले, उनके लिए अन्त. सेवा प्रशिक्षण के कार्यक्रमों का आयोजन हो तथा उन्हें विस्तार सेवा की सुविधायें उपलब्ध करवाई जायें।"

क्या अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता का अर्थ प्रशासकीय नियंत्रण है ? क्या सरकार से शिक्षा संस्थान चलाने के लिए मात्र आर्थिक सहायता लेने से ही संस्था प्रधान तथा उसके साथियों को अपनी मौलिक स्वतन्त्रता से वंचित कर देना उचित है ? मुकर्जी के अनुसार—"प्रशासन का अर्थ प्रभुत्व नहीं है तथा न ऐसा होना ही चाहिए। इसका अर्थ मार्ग-दर्शन एवं विचार-विमर्श करना, कार्यक्रम एवं गतिविधियों की सहायता के माध्यम से सहभागी बनाना ही है। दुर्भाग्य से भारत में सहायता प्राप्त विद्यालय पूर्व के समान ही आर्थिक आवर्तक या अनावर्तक या दोनों ही अनुदान प्राप्त करने के कारण सरकार के स्थायी कृतघ्न रहते हैं। शिक्षा संस्थाओं के संचालकों की पहल को इस प्रकार इस सीमा तक मृत या निष्क्रिय कर दिया जाता है कि वे सदैव ही उच्चाधिकारियों के आदेशों की प्रतीक्षा करते रहें। स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र की पूर्व आवश्यकता है. मांग है तथा शैक्षिक क्षेत्र में भी यह बात समान रूप से व्यवहृत है।" इस प्रकार किसी भी शिक्षा संस्थान का आन्तरिक प्रशासन, उसमें कार्यरत किसी उच्च अधिकारी के नियन्त्रण में होना चाहिए। पाठ्यक्रम का निर्धारण, पाठ्य-पुस्तकों का चयन, मूल्यांकन विधियां आदि का निश्चय विद्यालय के दिन प्रतिदिन का कार्य देखने वाले प्रधानाध्यापक या प्रधानाचार्य का सीधा उत्तरदायित्व है। कुछ भी हो, शिक्षा प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षार्थी का समाज-सम्मत प्रकृति-दत्त सीमाओं तक सर्वांगीण विकास करना है। दुर्भाग्य से आज शिक्षा प्रशासन शिक्षार्थी केन्द्रित होने के बजाय मात्र पंजिका या पत्रावली केन्द्रित होता चला जा रहा है। इसी भांति के. जी. सैय्यदेन ने भी बड़े दर्द के साथ शिक्षा प्रशासन के उद्देश्यों की ओर संकेत करते हैं—"शिक्षा प्रशासन को अब समझ लेना चाहिए कि उसका कार्य फायलों का निष्पादन करने, शिक्षण विधियों का पालन करने तथा मानवीय सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने तक ही सीमित नहीं है. उसको तो इनसे कहीं आगे बढ़ कर शैक्षिक विचार धाराओं को कार्य रूप में परिणित करना है। उसका कार्य शैक्षिक क्रिया और शैक्षणिक सिद्धान्तों के बीच अटूट सम्बन्ध नियोजन का है। स्पष्ट है कि शिक्षा प्रशासन का उद्देश्य सम्पूर्ण शिक्षा की प्रक्रिया में गति लाना, समायोजन स्थापित करना तथा उसमें प्रगति लाना है।"

शिक्षा प्रशासन को बिना मानवीय विकास की परवाह किये नियमों को अत्यधिक महत्व नहीं देना चाहिए। इसे कार्यालयों की कार्यवाही में उलझा न रह कर बालकों के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इसका

सम्बन्ध मानवीय विचारों, मानवीय भावनाओं, कोमल वृत्तियों तथा बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना अधिक रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध विद्यार्थियों तथा शिक्षा प्रशासन से जुड़े कर्मचारियों तथा अधिकारियों की वैयक्तिक विभिन्नताओं, उनके लक्षणों, उनकी प्रतिभाओं, उनकी उपलब्धियों तथा उनकी शैक्षिक समस्याओं से अधिक रहता है। शिक्षा प्रशासन द्वारा शैक्षणिक प्रक्रिया से जुड़े व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया जाता है। यह शिक्षा दर्शन द्वारा निर्धारित आदर्शों, मूल्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने और शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा बतलाये गये मानवीय व्यवहारों तथा साधनों को सचालित करने का एक साधन है। शिक्षा प्रशासन साधन मात्र है तथा साध्य तो है—शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति।

कोठारी आयोग (1964-66) के अनुसार—"शिक्षा प्रशासकों के व्यवहार में परिवर्तन आना चाहिए, उन्हें उदार होना चाहिए, उनमें नई बातों को सीखने की जिज्ञासा होनी चाहिए, उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके कारण पुरानी और निरर्थक रूढ़ियों से ही चिपके रहना पड़ता है।" शिक्षा प्रशासन के एक अध्येता को शिक्षा प्रशासन तथा शैक्षिक प्रबन्ध का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। शिक्षा प्रशासन का गहरा एवं विस्तृत क्षेत्र है तथा शैक्षिक प्रबन्ध को वह अपने में समेट लेता है। इस प्रकार शैक्षिक प्रबन्ध को संकुचित अर्थों में लिया जाना चाहिए—उसका क्षेत्र सीमित माना जाना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा प्रशासन में शैक्षिक प्रबन्ध भी सम्मिलित है, निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट शिक्षा के उद्देश्यों तथा नीतियों की व्याख्याओं का समावेश है। शिक्षा प्रशासन, संभवतया शिक्षा की मौलिक समस्याओं के न केवल हल के लिये उत्तरदायी है वरन् शैक्षिक सगठन के उद्देश्यो तथा ध्येयो के अर्थ लगाने तथा उनकी कारगर ढंग से प्राप्ति की तकनीक है। इस प्रकार शिक्षा प्रशासन के मुख्य कार्य हैं: शिक्षा के ध्येयों, लक्ष्यो एवं उद्देश्यो की व्याख्या करना, अर्थ लगाना तथा विवेचन प्रस्तुत करना, इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये सगठन की व्यवस्था, शैक्षिक कार्यक्रमो के निर्धारण तथा क्रियान्वयन के लिए निदेशन, उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए आवश्यकतानुसार मानवीय तथा भौतिक ससाधनों की प्राप्ति को संतुष्ट करना, सेवीवर्गीय कार्मिको (शिक्षकों शिक्षा प्रशासकों, गैरअकादमिक कर्मचारियों, छात्र कल्याणकारी सेवाओं से जुडे व्यक्तियों) के आप्रवेशन (रिक्रूटमेण्ट) के लिए नीति निर्धारण करना तथा उसका

क्रियान्वयन, कार्यक्रम के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों का गुणात्मक स्थान निर्धारण करना, मोटे रूप में विद्यालय तथा समाज के मधुर सम्बन्धों के विकास में सहायता करना तथा उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का निर्धारण करना तथा इस क्षेत्र में भावी संभावनाओं को ज्ञात कर, समग्र रूप में, शैक्षिक संगठन की भूमिका का अनुमान लगाना, आदि आदि। इससे स्पष्ट है कि आने वाले पेंचीदा तथा उलझनपूर्ण जीवन में शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र में विकास की ओर भी संभावनायें निरन्तर बनी रहेंगी।

संदर्भ साहित्य

आर्डवेटीड. दि आर्ट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, लन्दन : मेकग्रा हिल बुक कम्पनी, इनकारोरेटेड. 1951, पृ. 4.

वही पृ. 20.

वही पृ. 56.

बेंजामीन एफ. पिटनगर. लोकल पब्लिक स्कूल एडमिनिस्ट्रेशन, न्यूयार्क : मेकग्रा हिल बुक कम्पनी, इन. 1951, पृ. 96.

रोनाल्ड चफ. केम्पबेल, जॉन ई. कोराबेली (जु.) राम सीया. इन्ट्रोडक्शन टू एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन, न्यूयार्क : एलन एण्ड बेकन इन. 1958, पृ. 178.

वही पृ. 192.

रसेल टी. ग्रेग. एडमिनिस्ट्रेशन (आर्टिकल इन इन्साक्लोपीडिया ऑफ एज्यूकेशनल रिसर्च) एडिटेड बाइ चेस्टर डब्ल्यू. हेरिस. न्यूयार्क : मेकमिलन-1960, पृ. 19.

वही. पृ. 35

केफनवर एन. ग्रेसन. रिऑरियन्टेशन ऑफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन. दि फोरटी-फीफ्थ इयरबुक ऑफ दि नेशनल सोसायटी फॉर दि स्टेडी एज्यूकेशनल (पार्ट II) चेन्जिग कन्सेप्ट ऑफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन, एडिटेड वाई नेलशन बी. हेनरी. शिकागो . दि युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस. 1946, पृ. 176.

एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एज्यूकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन मॉडर्न मैनेजमेण्ट इन एज्यूकेशन एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली : ए. आई. ई. पी. ए. 1971, पृ. 21.

वही, पृ. 23.

वही, पृ. 25.

वही, पृ. 31.

वही, पृ. 73.

ग्राइडर केल्विन. ए केस फॉर स्कूल बोर्ड एसोसियेशन्स. दि नेशन्स स्कूल. 35 1 : 45–46 जनवरी, 1945.

एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एज्यूकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (उपर्युक्त) पृ. 85.

आर. सी. शर्मा (डॉ.) मीनिंग एण्ड सब्सटेन्स ऑफ एज्यूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन. एज्यूकेशनल ट्रेण्ड्स (क्वार्टरली जर्नल) अजमेर · रिजनल कॉलेज ऑफ एज्यूकेशन, भाग 2 संख्या 3–4. मार्च, 1968. पृ. 17.

वही, पृ. 19.

एस. एन. मुकर्जी (डॉ.) सैकेण्डरी स्कूल एडमिनिस्ट्रेशन. बड़ौदा : आचार्य बुक डिपो, द्वितीय संस्करण. 1963. पृ. 4.

वही, पृ. 25.

रिपोर्ट ऑफ दि सैकेण्डरी एज्यूकेशन कमीशन (1952–53), शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार. नई दिल्ली : प्रबन्धक. प्रकाशन विभाग, छठा रिप्रिंट. जून, 1965, पृ. 149.

कोठारी शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964–66) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली : प्रबन्धक, प्रकाशन विभाग, हिन्दी संस्करण, 1966, पृ. 668.

वही, पृ. 669–670.

एम. एन मुकर्जी (डॉ.) (सम्पादक), एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एज्यूकेशन इन इण्डिया, बड़ोदा : आचार्य बुक डिपो, प्रथम संस्करण, 1962, पृ. 227.

वही, पृ 236.

के. जी. सैय्यदेन, ह्यूमेनिस्टिक रीडिंग्ज इन इण्डियन एज्यूकेशन, नई दिल्ली : एशिया पब्लिशिंग हाऊस, 1958, पृ. 132.

कोठरी शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964–66), पृ. 671.

वही, पृ 675.

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की विशेषताएं

यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के चार दशक बाद तक, विभिन्न आयोगों के गठित होने के बाद भी भारतीय शिक्षा का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है। डॉ. राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में 1948 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, डॉ. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में 1953 में माध्यमिक शिक्षा आयोग तथा 1964–66 में कोठारी शिक्षा आयोग ने अपनी-अपनी संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं। 1948 में परीक्षा सुधार को, 1953 में बहुउद्देश्यीय माध्यमिक शिक्षा को सर्वोच्च स्थान पर महत्व दिया गया। कोठारी शिक्षा आयोग ने शिक्षा के सामान्य स्वरूप के साथ ही गुणवत्ता पर जोर दिया। इस बीच राष्ट्रीय भावात्मक एकता समिति, संस्कृत शिक्षा आयोग, ग्रामीण उच्च शिक्षा समिति, कार्यालय भाषा आयोग, पुस्तकालय भाषा, सम्पर्क भाषा आदि मुद्दों पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रयास किये गये। विभिन्न राज्य सरकारों ने भी अपने स्तर पर प्रयास शुरू किये, श्वेत पत्र जारी किये गये जिनमें उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में बनी शिक्षा समिति महत्वपूर्ण है। पिछले वर्ष 20 अप्रेल, 1955 को लोक सभा में प्रस्तुत नई शिक्षा नीति के निम्नांकित उद्देश्य बताये गये हैं :—

व्यवसाय पर आधारित शिक्षा का विकास।

नई एवं परिवर्तित तकनीक के अनुरूप जनशक्ति को प्रशिक्षित करना।

निरक्षरता के निवारणार्थ बहुलक्षी प्रयास-सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयास, अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, किसान साक्षरता, अनवरत शिक्षा, मुक्त विद्यालय एवं स्वैच्छिक प्रयास, आदि-आदि।

इन सब प्रयत्नों के पीछे भावना यह है कि प्राथमिक शिक्षा जन-जन तक पहुँचे। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की कतिपय प्रमुख विशेषताओं का यों वर्णन किया जा सकता है :—

शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप का विकास :—

देश व्यापी सभी राज्यों के लिये एक समान पाठ्यक्रम का विकास किया गया है। अभी यह प्रयास किया जा रहा है कि तीन चौथाई अर्थात्

75 प्रतिशत पाठ्यक्रम सभी राज्यों के लिए अनिवार्यतः एक समान हो और शेष 25 प्रतिशत पाठ्यक्रम विभिन्न राज्य अपनी विशिष्ठ आवश्यकताओं के अनुसार विनिश्चित करलें। प्रयत्न यह किया जाय कि इससे राज्य अपनी पहचान स्थापित कर सके। उदाहरण के लिये, राजस्थान मे प्रताप जयन्ती पर सामग्री जोड़ी जाती है तो महाराष्ट्र में शिवाजी जयन्ती पर सामग्री जोड़ी जा सकती है। सभी राज्यों के लिये एक समान 75 प्रतिशत पाठ्यक्रम में समसामयिक भारत, भारत के स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास, नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्य, राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक, समान सांस्कृतिक धरोहर आदि पर बल दिया जाना चाहिए। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सभी प्रान्तों में 10 + 2 + 3 शिक्षा सीढ़ी का विकास किया जाय तथा दसवी कक्षा तक सभी विद्यार्थियों को पढाये जाने वाले सभी विषय अनिवार्य हो। इस स्तर पर विषय चयन का विकल्प न दिया जाय, विषय-चयन की शुरूआत ग्यारहवीं कक्षा मे लागू की जाय।

अध्यापन की अपेक्षा अधिगम पर बल :—

नई शिक्षा नीति की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अध्यापन की अपेक्षा अधिगम पर अधिक जोर दिया गया है। यह आवश्यक नही है कि अध्यापक ही सब कुछ सिखाये या बालक को पढ़ाये। वैसे भी आज उपलब्ध पुस्तकें 2–3 वर्ष की छपी हुई है तथा उससे भी 5–7 वर्ष पूर्व की लिखी हुई है। इस प्रकार जो सामग्री आज बच्चों को दी जा रही है या पढ़ाई जा रही है वह 8 से 10 वर्ष पुरानी है, बासी है। इससे यह तो स्पष्ट कि बालक को दिया जाने वाला ज्ञान या सामग्री अद्यतन नहीं है। फिर अध्यापक सदैव इस भ्रम में नही चाहिए कि बालक केवल उससे ही सीखता है। इस शिक्षा नीति में इस बात पर बल दिया गया है कि बच्चा स्वयं भी सीखे। Self Learning (सेल्फ लर्निंग) भी ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है, स्रोत है। अब महत्वपूर्ण यह है कि अध्यापक बालक को जिज्ञासु बनाये कि वह स्वयं भी सीखे, पढ़े, बालक में यह ललक, तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न करें कि वह नये विकसित ज्ञान से अपने को परिचित रखे। जब बच्चे को भी ज्ञान की उपयोगिता का पता लग जायेगा तो वह भी अपने प्रयत्नों मे पीछे नही रहेगा। प्रश्न बालक में ज्ञान की उपयोगिता के विवेक के माध्यम से विकास करने का है। इसी तथ्य को इस पूरी शिक्षा नीति मे अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

स्वैच्छिक शैक्षिक प्रयासों को प्रोत्साहन :—

नई शिक्षा नीति के अनुसार शिक्षा के प्रचार प्रसार के लिए हर स्तर पर स्वैच्छिक प्रयासों का स्वागत किया जायेगा। निम्नस्तर की शिक्षा देने वाली संस्थाओं (तकनीकी शिक्षा, चिकित्सा शिक्षा अभियान्त्रिकी शिक्षा अध्यापक शिक्षा, समाज कार्य शिक्षा आदि) पर सम्बन्धित शिक्षा की भारतीय परिषद या संस्थान को रोक लगाने के लिये सक्षम बनाया जायेगा और यदि आवश्यकता हुई तो क्षेत्र में नये कानून पारित करवाये जायेंगे। महत्वपूर्ण यह है कि केवल धन कमाने की दृष्टि से संचालित संस्थाओं पर रोक लगाई जायेगी। मूलत: तकनीकी व अन्य व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र मे संस्थाओं पर उनमें उपलब्ध शिक्षण सामग्री एवं अकादमिक स्टाफ पर पैनी दृष्टि रखी जायेगी।

नैतिक मूल्यों का विकास:—

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सबल घटक है और सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण है। समाज में भाग्यवाद की स्थिति समाप्त हो तथा नागरिक कर्म में अटूट विश्वास विकसित करे। मानवता की रक्षा के लिए नैतिक मूल्यों का विकास परम आवश्यक है। नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अन्य विषयों के माध्यम से, जब और जहां सहज ही अवसर प्राप्त हो जाय, की जानी चाहिए। सभी शिक्षाविदों का आग्रह है कि नैतिक शिक्षा सूचना मात्र ही न बन जाय। शिक्षा संस्थान के वातावरण में कण-कण से यह प्रस्फुटित होना चाहिए कि उस वातावरण के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति नैतिक बन जाय।

शिक्षा को व्यवसाय से जोड़ना:—

शिक्षा बालक को वास्तविक वातावरण में दी जाय, कृत्रिम वातावरण में बालक को असन्तोष होगा, वह जीवन में असमायोजित होगा, उसे भग्नाशा होगी। बालक सुखपूर्वक जीवन जीने के साथ-साथ अपने व्यवसाय में प्रकृतिदत्त सीमा तक फले फूले, इसके लिये आवश्यक है कि बालक का प्रारम्भ से ही रुझान ज्ञात कर, उसको उस धंधे मे ही महारत (कुशलताएं) हासिल कराई जाय। सही व्यवसाय का चयन ही बालक को सर्वाधिक सन्तोष एवं सफलता प्रदान करेगा, इस दृष्टि से बालक के जीवन

में व्यवसाय चयन का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इसी आधार पर वर्तमान पाठ्यक्रम में विज्ञान एवं तकनीकी का समावेश किया जाना चाहिए। प्रयत्न यह किया जाय कि दसवीं कक्षा उत्तीर्ण सभी विद्यार्थी साहित्यिक या विज्ञान या वाणिज्यिक विषयों में प्रवेश पाने के लिए उत्सुक न रहे। इन विद्यार्थियों के 50 प्रतिशत भाग को ही इन उदार या साहित्यिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में प्रवेश दिया जाय तथा शेष 50 प्रतिशत छात्रों को निश्चित रूप से व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए मोड़ा जाय, तैयार किया जाय।

नौकरी को उपाधि से पृथक करना:—

निम्न या मध्य निम्न पदों के लिए जहाँ उपाधि होना या न होना महत्वहीन है। उन पदों के लिए सावधानीपूर्वक सोच विचार के साथ धीरे-धीरे उपाधि की अनिवार्यता समाप्त की जाय। पश्चिमी देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों का प्रतिशत दशमलव में आता है जबकि भारत में 1981 की जनगणना के अनुसार 3·76 प्रतिशत है। यदि नौकरी तथा उपाधि का सम्बन्ध टूट जाता है तो नागरिकों के मन में बैठी उच्च शिक्षा प्राप्ति की इच्छा या ललक मिट सकती है। ऐसी स्थिति में उच्च शिक्षा संस्थानों में सही एवं पात्र शिक्षार्थियों को ही प्रवेश मिल सकेगा। ऐसा होने पर अन्य कई शिक्षा सम्बन्धी या शिक्षा से जुड़ी व्याधियां स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी।

खुला विश्वविद्यालय

खुला विश्वविद्यालय आज की सर्वोच्च आवश्यकता है। जो लोग एक या अन्य कारण से उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके या अब उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा करते हैं या बदले हुए समय में नई तकनीक की दृष्टि से जो लोग आउट आफ डेट हो गये हैं, वे समय के साथ चलने के लिये खुले विश्वविद्यालयों से लाभ उठा सकते हैं। वैसे भारत में शिक्षा के प्रचार प्रसार या साक्षरता वृद्धि के लिये भी खुले विश्व-विद्यालय का उपयोग किया जा रहा है। खुले विश्वविद्यालय का दर्शन ही अलग है, उसकी कार्य प्रणाली भी परम्परागत शिक्षा संस्थान से भिन्न है, उसके पढ़ाने की विधि भी अलग है। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थी अपनी गति तथा सुविधानुसार समय मिलने पर पढ़ लेता है,

स्वैच्छिक शैक्षिक प्रयासों को प्रोत्साहन :—

नई शिक्षा नीति के अनुसार शिक्षा के प्रचार प्रसार के लिए हर स्तर पर स्वैच्छिक प्रयासों का स्वागत किया जायेगा। निम्नस्तर की शिक्षा देने वाली संस्थाओं (तकनीकी शिक्षा, चिकित्सा शिक्षा अभियान्त्रिकी शिक्षा अध्यापक शिक्षा, समाज कार्य शिक्षा आदि) पर सम्बन्धित शिक्षा की भारतीय परिषद या संस्थान को रोक लगाने के लिये सक्षम बनाया जायेगा और यदि आवश्यकता हुई तो क्षेत्र में नये कानून पारित करवाये जायेंगे। महत्वपूर्ण यह है कि केवल धन कमाने की दृष्टि से संचालित संस्थाओं पर रोक लगाई जायेगी। मूलतः तकनीकी व अन्य व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में संस्थाओं पर उनमें उपलब्ध शिक्षण सामग्री एवं अकादमिक स्टाफ पर पैनी दृष्टि रखी जायेगी।

नैतिक मूल्यों का विकास:—

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सबल घटक है और सामाजिक परिवर्तन मे शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण है। समाज में भाग्यवाद की स्थिति समाप्त हो तथा नागरिक कर्म में अटूट विश्वास विकसित करे। मानवता की रक्षा के लिए नैतिक मूल्यों का विकास परम आवश्यक है। नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अन्य विषयों के माध्यम से, जब और जहां सहज ही अवसर प्राप्त हो जाय, की जानी चाहिए। सभी शिक्षाविदो का आग्रह है कि नैतिक शिक्षा सूचना मात्र ही न बन जाय। शिक्षा संस्थान के वातावरण में कण-कण से यह प्रस्फुटित होना चाहिए कि उस वातावरण के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति नैतिक बन जाय।

शिक्षा को व्यवसाय से जोड़ना:—

शिक्षा बालक को वास्तविक वातावरण में दी जाय, कृत्रिम वातावरण में बालक को असन्तोष होगा, वह जीवन में असमायोजित होगा; उसे भग्नाशा होगी। बालक सुखपूर्वक जीवन जीने के साथ-साथ अपने व्यवसाय में प्रकृतिदत्त सीमा तक फले फूले, इसके लिये आवश्यक है कि बालक का प्रारम्भ से ही रुझान ज्ञात कर, उसको उस धंधे में ही महारत (कुशलताऐं) हासिल कराई जाय। सही व्यवसाय का चयन ही बालक को सर्वाधिक सन्तोष एवं सफलता प्रदान करेगा, इस दृष्टि से बालक के जीवन

में व्यवसाय चयन का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । इसी आधार पर वर्तमान पाठ्यक्रम में विज्ञान एवं तकनीकी का समावेश किया जाना चाहिए । प्रयत्न यह किया जाय कि दशवी कक्षा उत्तीर्ण सभी विद्यार्थी साहित्यिक या विज्ञान या वाणिज्यिक विषयों मे प्रवेश पाने के लिए उत्सुक न रहे । इन विद्यार्थियो के 50 प्रतिशत भाग को ही इन उदार या साहित्यिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में प्रवेश दिया जाय तथा शेष 50 प्रतिशत छात्रों को निश्चित रूप से व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए मोड़ा जाय, तैयार किया जाय ।

नौकरी को उपाधि से पृथक करना:—

निम्न या मध्य निम्न पदो के लिए जहाँ उपाधि होना या न होना महत्वहीन है । उन पदों के लिए सावधानीपूर्वक सोच विचार के साथ धीरे-धीरे उपाधि की अनिवार्यता समाप्त की जाय । पश्चिमी देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो का प्रतिशत दशमलव मे आता है जबकि भारत में 1981 की जनगणना के अनुसार 3·76 प्रतिशत है । यदि नौकरी तथा उपाधि का सम्बन्ध टूट जाता है तो नागरिकों के मन मे बैठी उच्च शिक्षा प्राप्ति की इच्छा या ललक मिट सकती है । ऐसी स्थिति मे उच्च शिक्षा संस्थानों मे सही एवं पात्र शिक्षार्थियों को ही प्रवेश मिल सकेगा । ऐसा होने पर अन्य कई शिक्षा सम्बन्धी या शिक्षा से जुड़ी व्याधियां स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी ।

खुला विश्वविद्यालय

खुला विश्वविद्यालय आज की सर्वोच्च आवश्यकता है । जो लोग एक या अन्य कारण से उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके या अब उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा करते हैं या बदले हुए समय मे नई तकनीक की दृष्टि से जो लोग आउट आफ डेट हो गये है, वे समय के साथ चलने के लिये खुले विश्वविद्यालयों से लाभ उठा सकते हैं । वैसे भारत में शिक्षा के प्रचार प्रसार या साक्षरता वृद्धि के लिये भी खुले विश्वविद्यालय का उपयोग किया जा रहा है । खुले विश्वविद्यालय का दर्शन ही अलग है, उसकी कार्य प्रणाली भी परम्परागत शिक्षा संस्थान से भिन्न है, उसके पढ़ाने की विधि भी अलग है । इस व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थी अपनी गति तथा सुविधानुसार समय मिलने पर पढ़ लेता है,

यह परीक्षा भी कई प्रयत्नों में उत्तीर्ण कर सकता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि इससे शिक्षा का स्तर गिर रहा है पर यह आज की अपरिहार्य आवश्यकता है, इसमें कहीं मत विभिन्नता नहीं है। यदि इस आलोचना में सच्चाई है तो शिक्षा का वांछित स्तर बनाये रखने के लिये साधन व उपाय खोजे जाने चाहिए।

अखिल भारतीय शिक्षा सेवा का गठन

कई बार यह आलोचना सुनी जाती है कि आज प्रशासक पंगु हो गया है तथा शिक्षा-प्रशासन के लिए यह कथन समान रूप से लागू है। प्रस्तावित इस सेवा के गठन से प्रशासन में चुस्ती आयेगी, ऐसी आशा की जानी चाहिए। अधिकारी सम्पूर्ण भारत में कहीं भी स्थानान्तरित किये जा सकेंगे—इससे उनमें स्थानीयता का लगाव विकसित नहीं होगा तथा वे स्थानीय प्रभावों से मुक्त होकर नियमानुसार कार्य कर सकेंगे, निर्णय ले सकेंगे, स्थानीय नेता या प्रभावी नागरिक उन पर प्रभाव नहीं ला सकेंगे जिससे प्रशासन लोक कल्याण की ओर अग्रसर होगा।

दुःख है कि कुछ राज्यों ने इस अखिल भारतीय शिक्षा सेवा के लिये अपनी सहमति नहीं दी है। इस सेवा के लाभों एवं दूरगामी परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए यह आशा की जानी चाहिए कि वे अपने दुराग्रहों से दूर हट कर इस महत्वपूर्ण सेवा के गठन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे।

कमजोर वर्गों के लिये शिक्षा व्यवस्था

समाज के कमजोर वर्गों मे महिलायें, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, विकलांग आदि सदस्य आते हैं। इस शिक्षा नीति मे इनके विकास हेतु विशेष व्यवस्थायें की गई हैं। शिक्षा संस्थानों में स्थान आरक्षित किये गये है, नये खुलने वाले नवोदय विद्यालयों में भी इस बात का सजगतापूर्वक ध्यान रखा गया है।

परीक्षा प्रणाली में सुधार

सम्पूर्ण शिक्षा में परीक्षा प्रणाली में सुधार महत्वपूर्ण स्थान रखता है। नई शिक्षा नीति में अंकों के स्थान पर ग्रेड दिया जायेगा। 48 या 45 प्रतिशत अंक (जैसा भी विषय हो) पाने वाले को द्वितीय श्रेणी मिलती है पर 47 या 44 प्रतिशत अंक पाने वाले छात्र को तृतीय

श्रेणी। इससे विद्यार्थियों में असन्तोष पनपता है। सम्भव है ग्रेड प्रणाली में 40 से 50 या 45 से 55 प्रतिशत अंक पाने वाले विद्यार्थियों को बी या सी ग्रेड दिया जाय—इससे विद्यार्थियों को बहुतांशो में असन्तोष से बचाया जा सकेगा। वार्षिक परीक्षा पर ही परीक्षाफल निर्भर नहीं करेगा—कई सामयिक परीक्षायें ली जाती रहेंगी—इससे विद्यार्थी में नियमित रूप से पढ़ने की आदत का विकास होगा। बाह्य परीक्षाओं के महत्व को कम करने पर भी आग्रह है। अध्यापक विद्यार्थी की कमजोरी ज्ञात कर उसी क्षेत्र में अधिक अभ्यास कार्य देकर उसे अन्य छात्रों के समकक्ष ला सकेंगे। यही कारण है कि कई राज्यों में स्वायत्तशासी शिक्षा संस्थान भी बनाये जा रहे हैं। इन सब कार्यक्रमों के आधार पर बालक के व्यापक एवं निरन्तर मूल्यांकन पर जोर दिया जायेगा।

खेलों पर अधिक ध्यान :

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क विचार करता है—इस पुरानी बात को आधार मान कर खेलो पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। खेल संकुल या क्रीडा संगम बनाये जा रहे हैं। छात्रवृत्तियों की संख्या तथा मूल्य सूचकांक के आधार पर उनकी राशि भी बढ़ाई जा रही है। खेलों के नये अल्प-कालिक पाठ्यक्रम भी आरम्भ किये जा रहे हैं।

सतत खुले रहने वाले प्राथमिक विद्यालय :

नई शिक्षा नीति का ध्येय वाक्य ही यह है कि किसी भी विद्यालय में दो अध्यापकों से कम स्टाफ नहीं होगा तथा वर्ष के बारहों माह काम करने के लिये अर्थात् विद्यालय मे अध्यापन कार्य के लिये कम से कम दो कमरे अवश्य हो। इन दो अध्यापकों में से एक अनिवार्यत महिला अध्यापिका ही हो। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए कई शिक्षा शास्त्री इसी आधार पर इसे महत्वाकाक्षी योजना कह कर इसकी आलोचना-प्रत्यालोचना भी करते हैं।

नवोदय विद्यालय

देश के प्रत्येक जिले में नवोदय विद्यालय स्थापित किये जायेंगे, जिनमें छात्रों को प्रवेश छठी कक्षा में सार्वजनिक प्रवेश परीक्षा के आधार पर दिया जायेगा। प्रवेश के समय शहरी तथा ग्रामीण बालक एवं बालिका का पूर्व निश्चित अनुपात ध्यान मे रखा जायेगा। बालक के प्रवेश का आधार माता-पिता की माली हालत न होकर बालक की प्रवेश परीक्षा की सम्प्राप्ति होगी। ये विद्यालय आवासीय होंगे तथा प्रविष्ठि किये गये सभी छात्र एवं

छात्राओं को विद्यालय से जुड़े आवास में ही रहना होगा जहाँ उन्हें निःशुल्क शिक्षा, भोजन, पाठ्य सामग्री और सुविधायें उपलब्ध होंगी। आठवीं कक्षा के बाद 20 प्रतिशत छात्रों को भिन्न भाषा भाषी राज्यों के नवोदय विद्यालयों में भेज दिया जायेगा, इससे राष्ट्रीय भावात्मक एकता को सुपुष्ठ किया जायेगा। इन विद्यालयों में पूरे मन से ईमानदारी के साथ त्रिभाषा सूत्र लागू किया जायेगा। अभी कुछ ही जिलों में ये विद्यालय खोले गये हैं तथा इन्हें कार्य करते हुए अभी अधिक समय भी नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में इनकी कार्य विधि उपलब्धि आदि का मूल्यांकन करना समीचित नहीं होगा।

पर्यावरण के संरक्षण पर बल :

नई शिक्षा प्रणाली में बहुत आरम्भ से ही बालक को पर्यावरण के प्रति सजग बनाया जायेगा। वन, पर्वत, नदी नष्ट न हों, चरागाह की रक्षा हो, मिल कारखाने के पास का पर्यावरण शुद्ध रहे, ऐसे प्रयासों को भरपूर बढावा दिया जायेगा। न केवल इतना ही, वैचारिक या सामाजिक या मनोरंजन सम्बन्धी पर्यावरण की रक्षा के लिए भी भरपूर प्रयत्न किये जायेंगे।

शिक्षा का आधुनिकीकरण :—

नई शिक्षा नीति में कम्पूटरीकरण पर जोर दिया गया है। शिक्षा देने में अर्थात साक्षरता के विकास में इस तकनीक का भरपूर प्रयोग किया जायेगा। सेटेलाइट एवं पत्राचार से शिक्षा का और अधिकतम सीमा तक विकास किया जायेगा तथा टी. वी. वीडियो केसेट का भी पूरा-पूरा लाभ उठाया जायेगा। अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा के लिए उच्च तकनीक तथा कम्पूटरीकरण का उपयोग करना होगा जिसमें आने वाली पीढी भी अपने आप को सक्षम बना सके तथा इक्कीसवी शताब्दी के लिए तैयार हो सके।

अध्यापक के रूप में सही व्यक्ति का चयन :—

अध्यापक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जायेगा क्योंकि शिक्षा में गुणवत्ता ही इस घटक पर निर्भर करता है। अध्यापक शिक्षा में अन्ततः सेवा शिक्षा (इन सर्विस एजूकेशन) भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रयत्न यह किया जायेगा कि सम्पूर्ण भारत में शिक्षकों को एक समान वेतन मान प्राप्त हो, उनकी सेवा शर्तों में सुधार हो, त्रिसूत्री लाभ प्रदान किया जाय।

शिक्षकों के लिए आवास सम्बन्धी योजना अन्य विभागों की मदद एवं मार्गदर्शन के साथ समयबद्ध तैयार की जायेगी । शिक्षकों को समाज में सम्मानपूर्ण उच्च स्थान प्राप्त हो, इसके लिए समाज को सजग बनाकर उन पर जिम्मेदारी डाली जायेगी । प्रयत्न यह किया जायेगा कि हर अध्यापक पांच वर्ष में पुनरचर्या पाठ्यक्रम (रिफ्रेशन कोर्स) मे अनिवार्यतः भाग ले सके । इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण कि अध्यापन कार्य के लिए सही व्यक्ति का ठीक बजाकर चयन किया जायेगा ।

नये संस्थान :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में शिक्षण संस्थाओं की संख्या में कई गुनी वृद्धि हुई है, विद्यार्थियो एवं अध्यापकों की संख्या मे भी भारी वृद्धि हुई है, उनकी गतिविधियों एवं कार्यों के परिवीक्षण के लिए नये संस्थानों की स्थापना भी प्रस्तावित की गई है, इन संस्थानो को अन्य उत्तरदायित्व भी सौंपे जायेंगे । राज्यों में डिस्ट्रीक्ट इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन एण्ड ट्रेनिंग तथा डिस्ट्रीक्ट बोर्ड ऑफ एजूकेशन स्थापित किये जायेंगे । ये संस्थान अन्य कार्यों के साथ-साथ जिले में शिक्षित जन बल की आवश्यकता का अनुमान/आकलन कर उच्चाधिकारियों को सुझाव प्रस्तुत करेंगे जिसे शैक्षिक कार्यक्रमों में परिवर्तन एवं संशोधन किये जायेंगे । इस प्रकार शिक्षा को जनसाधारण के लिए अर्थपूर्ण बनाई जा सकेगी । शिक्षा में अनुसंधान का उच्च स्तर बनाये रखने के लिए 'शोध का राष्ट्रीय शीर्षस्थ संस्थान' स्थापित किये जाने का प्रस्ताव है ।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मूल आग्रह यह है कि इक्कीसवी शताब्दी के लिए उत्तरदायी एवं संवेदनशील नागरिक तैयार हो, वे मानवीय मूल्यों तथा टेक्नोलॉजी के गुणग्राही हों वे प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के प्रबल पक्षधर हों, व्यक्ति की गरिमा, उसके व्यक्तित्व मे विश्वास करें, परिवर्तन के समर्थक हो, शारीरिक बल से नही बरन् तर्क के आधार पर सोच विचार करने, बड़े स्वार्थ के लिए छोटे स्वार्थ का त्याग करने वाले सद्गुणी नागरिकों की रचना हो ।

कुशलतापूर्वक प्रयोग करने से मशीनों का जीवन विस्तार बढ़ता है, इससे स्पष्ट है कि श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। इतना ही नहीं, शिक्षा श्रमिकों को नई मशीनों के साथ, नये वातावरण से तालमेल करना भी सिखाती है। शिक्षा न केवल उत्पादन में ही सहायता करती है वरन् यह वितरण में भी मदद करती है। साधारणतया एक अन्य वेतन भोगी कर्मचारी की शिक्षा भी कम ही होती है, ज्योंही वह आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त करले तो उसे उच्च वेतन के पद पर पदोन्नति दी जाय। इससे आय के समान वितरण में मदद मिलती है। इसी भाँति उच्च आय के व्यक्तियों पर प्रगतिशील दरों से कर लगाये जाय तथा उनसे प्राप्त धन को निर्धनों के कल्याणकारी कार्यों पर खर्च किया जाय, जैसे मुफ्त चिकित्सा, रियायती दरों पर पौष्टिक खाद्यान्न, आदि। इससे धन के समान वितरण में मदद मिलेगी, फलतः जनसाधारण का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। इसके दूसरी ओर शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति यह है कि ज्यों-ज्यों उपचार किया गया तो रोग बढ़ता ही गया, रोग पर काबू न किया जा सका। यह एक दुखद एवं निराशाजनक स्थिति है जिसे स्वीकार करना होगा। स्वतन्त्र भारत में 1950 में संविधान स्वीकार कर भारत को सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य घोषित किया गया। संविधान में स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा राज्यों का विषय है। संविधान की धारा 45 में कहा गया है कि—

"संविधान के लागू होने के 10 वर्षों में राज्य अपने क्षेत्र में 14 वर्ष तक की आयु के सभी बालकों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेंगे।"

इसके बाद आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का काल आया। इन अवधियों में राशि की व्यवस्था निम्नानुसार की गई:—

योजना	राशि (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशत
प्रथम	8	56
द्वितीय	89	35
तृतीय	180	34
चतुर्थ	1260	30
पाचवीं		32
छठी		36

सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के लिए अनौपचारिक विधियों की अपरिहार्यता

राजस्थानी की एक कहावत के अनुसार पढ़े लिखे व्यक्ति के चार आँखें होती हैं। पर व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी भी व्यक्ति के चार आँखें नहीं होती हैं, इस लिए इस कहावत के शाब्दिक अर्थ को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए, बल्कि यह मानना ज्यादा अर्थपूर्ण लगता है कि शिक्षा से व्यक्ति के अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं वह सहिष्णु तथा दूसरे के लिये विचार करने योग्य बन जाता है। इस भांति इसका अर्थ यों भी लिया जा सकता है कि शिक्षित व्यक्ति के सोचने-विचारने का क्षेत्र विस्तृत होता है, वह दूसरों के लिए जीना जानता है, दूसरों के दु.ख दर्द में काम आना श्रेयस्कर समझता है, बड़े स्वार्थ के लिए छोटे स्वार्थ का त्याग करना जानता है, वह दूसरों के लिए काम आ कर, परोपकार में हिस्सा बँटा कर गर्व एवं प्रसन्नता अनुभव करता है। इस प्रकार निश्चय ही शिक्षित व्यक्ति के चार आँखें होना स्वीकार करना चाहिए।

शिक्षा के इस प्रकार के अर्थ को स्वीकार करने पर, स्पष्ट है कि, जनसाधारण में शिक्षा की मांग बढनी चाहिए। यह दूसरी बात है कि समय या वर्ग विशेष द्वारा इस तथ्य पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना ध्यान दिये जाने की आवश्यकता थी। पर इसके लिये बहुलांशों में यह सही है कि हर माता-पिता अपनी सन्तान को पढ़ाना चाहता है। इसके लिये और भी आधार बताये जा सकते हैं-शिक्षा किसी भी देश के आर्थिक विकास में एकाधिक तरीकों से मदद करती है। श्रमिकों की कार्यक्षमता बढा कर आर्थिक विकास को अग्रसर किया जा सकता है। शिक्षा के माध्यम से श्रमिकों को अधिक ज्ञान तथा कौशल प्राप्त होता है। वे सीखते हैं कि मशीनें व अन्य उपकरण कैसे प्रयोग किये जाने चाहिए, सजगता एवं

कुशलतापूर्वक प्रयोग करने से मशीनों का जीवन विस्तार बढ़ता है, इससे स्पष्ट है कि श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। इतना ही नहीं, शिक्षा श्रमिकों को नई मशीनों के साथ, नये वातावरण से तालमेल करना भी सिखाती है। शिक्षा न केवल उत्पादन में ही सहायता करती है वरन् यह वितरण में भी मदद करती है। साधारणतया एक अन्य वेतन भोगी कर्मचारी की शिक्षा भी कम ही होती है, ज्योंही वह आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त करले तो उसे उच्च वेतन के पद पर पदोन्नति दी जाय। इससे आय के समान वितरण में मदद मिलती है। इसी भाँति उच्च आय के व्यक्तियों पर प्रगतिशील दरों से कर लगाये जाय तथा उनसे प्राप्त धन को निर्धनों के कल्याणकारी कार्यों पर खर्च किया जाय, जैसे मुफ्त चिकित्सा, रियायती दरों पर पौष्टिक खाद्यान्न, आदि। इससे धन के समान वितरण में मदद मिलेगी, फलत: जनसाधारण का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। इसके दूसरी ओर शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति यह है कि ज्यों-ज्यों उपचार किया गया तो रोग बढ़ता ही गया, रोग पर काबू न किया जा सका। यह एक दुखद एवं निराशाजनक स्थिति है जिसे स्वीकार करना होगा। स्वतन्त्र भारत में 1950 में संविधान स्वीकार कर भारत को सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य घोषित किया गया। संविधान में स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा राज्यों का विषय है। संविधान की धारा 45 में कहा गया है कि—

"संविधान के लागू होने के 10 वर्षों में राज्य अपने क्षेत्र में 14 वर्ष तक की आयु के सभी बालकों को नि:शुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेंगे।"

इसके बाद आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का काल आया। इन अवधियों में राशि की व्यवस्था निम्नानुसार की गई:—

योजना	राशि (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशत
प्रथम	8	56
द्वितीय	89	35
तृतीय	180	34
चतुर्थ	1260	30
पांचवीं		32
छठी		36

यहां यह स्मरणीय है कि योजना की हर अवधि में कुल राशि की वृद्धि हुई है पर योजना में शिक्षा के कुल व्यय का प्रतिशत घटा है। ये आंकड़े बताते हैं कि हर योजना में राशि की वृद्धि हुई है, पर जनसंख्या की वृद्धि से, बेहत्तर चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध होने से मृत्यु दर में कमी से यह बढ़ी हुई राशि कोई कारगर प्रभाव नहीं बता सकी। हां, पांचवी तथा छठी योजना में खर्च का प्रतिशत नाम मात्र का बढ़ा भी है।

तालिका संख्या 1. विद्यार्थी एवं विद्यालय प्राथमिक स्तर[1]

	1947-48	1977-78
प्राथमिक		
छात्र	7603385	43196697
विद्यालय	426982	425188
छात्राएँ	2897646	26953273
विद्यालय	13812	29968
कुल विद्यार्थी	10701031	70149960
कुल विद्यालय	140794	455156

ऊपर दी गई तालिका संख्या बताती है कि सन् 1947-48 मे कुल विद्यालय 1 लाख 40 हजार थे जो 1977-78 मे बढ़ कर 4 लाख 55 हजार हो गये। सन् 1983 में 5 लाख [67 हजार प्राथमिक हो गये। 1947-48 मे 76 लाख छात्रो के लिए 4 लाख 26 हजार विद्यालय थे तथा 28 लाख 97 हजार छात्राओं से लिए 13 हजार 8 सौ विद्यालय थे। 1977-78 में 4 करोड़ 13 लाख 96 हजार छात्रों के लिए सख्या मे लगभग छ गुनी वृद्धि होने पर 4 लाख 25 हजार विद्यालय थे, जबकि 2 करोड़ 69 लाख 53 हजार छात्राओं के लिए संख्या मे 9 गुनी वृद्धि होने पर भी विद्यालय लगभग दूने ही हो पाये। इस वृद्धि में कोई सन्तुलन नही रह पाया। ये आकड़े आश्चर्यजनक हो सकते हैं। कुछ अशो मे छात्राओं के विद्यालयो की कम वृद्धि तथा छात्र विद्यालयो मे विद्यार्थियो की अत्यधिक वृद्धि का कारण छात्राओ का छात्रो के विद्यालयो में प्रवेश लेना माना जा

1. ऐसी सभी सूचनाएँ, जिनकी प्राप्ति का विशिष्ट स्रोत नहीं दिया गया है, भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के सौजन्य से प्राप्त की गई हैं।

सकता है — पर अन्तर तो है ही, इस असंतुलित विकास को महत्वहीन नहीं कहा जा सकता।

तालिका संख्या 2. उच्च प्राथमिक स्तर

	1947-48	1977-78
छात्र	1332463	12030747
विद्यालय	7645	98418
छात्राएं	249070	5736068
विद्यालय	1178	10184
कुल विद्यार्थी	1581533	17766814
कुल विद्यालय	8823	108602

तालिका संख्या 2 उच्च प्राथमिक शिक्षा का चित्र प्रस्तुत करती है। स्थिति यहां भी उत्साहवर्द्धक नहीं है। सन् 1947 48 में जो छात्र संख्या 15-लाख 81 हजार थी वह 1977-78 में 1 करोड़ 77 लाख 66 हजार—लगभग 12 गुनी वृद्धि हो गई। इसी अवधि में 8823 विद्यालय 13 गुने बढ़ कर 1 लाख 8 हजार हो गये और 1983 में 1 लाख 29 हजार विद्यालय हो गये। छात्र-छात्राओं की दृष्टि से यहां भी विस्तार असंतुलित हुआ है। इसी अवधि में 13 लाख 82 हजार छात्र 9 गुने बढ़ कर 1 करोड़ 20 लाख 30 हजार हो गये, जबकि छात्रायें 2 लाख 49 हजार से लगभग 24 गुनी बढ़ कर 57 लाख 36 हजार हो गई। इनके विद्यालयों की स्थिति में सुधार इस प्रकार हुआ — छात्र विद्यालय 7 हजार [illegible] सौ से 14 गुने बढ़ कर 98 हजार, 4 सौ हो गये, जबकि छात्राओं के विद्यालय 1 हजार 1 सौ से [illegible] गुने बढ़ कर 10 हजार एक सौ हो गये। यहां ध्यान दिया जाना चाहिए कि छात्रों की संख्या 13 गुनी बढ़ी और लगभग उसी अनुपात में 14 गुने विद्यालय बढ़ गये पर छात्रायें तो बढ़ीं 24 गुनी तथा उनके विद्यालय बढ़े [illegible] गुने। इससे स्पष्ट है कि कई जगह बालिकायें छात्र विद्यालय में शिक्षा पा रही थी। 1977-78 में प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों से जो छात्र 8 करोड़ 78 लाख थे वे 1983 में बढ़ कर 11 करोड़ 4 लाख हो गये। 1950-51 में 15 प्राथमिक विद्यालयों के पीछे 15 प्राथमिक विद्यालय था जो 1982-33 में चार के पीछे एक हो गया।

तालिका संख्या 3 विद्यालय जाने वाले विद्यार्थियों का प्रतिशत[1]

		50-51	78-79
प्राथमिक	छात्र	60	92
	छात्राएँ	25	78
उच्च प्राथमिक	छात्र	23	88
	छात्राएं	5	33

तालिका संख्या 3 दर्शाती है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साक्षरता का विकास तो हुआ है पर इस विकास को संतुलित नहीं कहा जा सकता। प्राथमिक स्तर पर 6–11 आयुवर्ग के 1950–51 में 60 प्रतिशत जो बालक विद्यालय जाते थे वे 78–79 में 92 प्रतिशत हो गये एवं छात्राएँ इसी अवधि में 25 से बढ़ कर 78 प्रतिशत हो गईं। जहाँ बालक डेढ़ गुने बढ़े हैं वहीं बालक बालिकाएं 3 गुनी बढ़ी हैं। इसी भांति उच्च प्राथमिक स्तर पर इसी अवधि में छात्र 23 से बढ़ कर 88 प्रतिशत तथा छात्राएँ 5 से बढ़ कर 33 प्रतिशत हो गईं। जहाँ छात्र लगभग पौने चार गुने बढ़े हैं वहीं छात्राएँ साढ़े छः गुने से भी अधिक बढ़ी हैं।

अब इस साक्षरता पर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के सन्दर्भ में विचार कीजिये। सन् 1947–48 में इन वर्गों के प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों में 17 लाख 6 हजार 5 सौ बारह विद्यार्थी पढ़ रहे थे जो 1977–78 में 1 करोड़ 52 लाख 37 हजार 778 हो गये। इनकी वृद्धि लगभग 9 गुनी मानी जा सकती है पर छात्राओं तथा इन्हीं वर्गों की भिन्न-भिन्न जातियों के सन्दर्भ में स्थिति अत्यन्त भयातुर है।

प्राथमिक शिक्षा में बढ़ोतरी हर नये दशक के साथ कम होती रही है। 1950 से 60 तक 6·2, 1961 से 70 तक 5·0, 1971 से 80 तक 2·5 प्रतिशत रही है। इसी स्थिति को यों समझाया जा सकता है कि शिक्षा की सुविधाओं में विकास के साथ-साथ बढ़ोत्तरी का प्रतिशत कम हो गया। जनसंख्या मे बढ़ोत्तरी के साथ कुल छात्र संख्या में वृद्धि अवश्य हुई है पर

---

1. सूचना पुस्तिका. नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, खण्ड 4. अंक 9. अगस्त 1978 पृष्ठ 10.

निरक्षरता की सीमा भी साथ-साथ बढ़ती रही है ।.शैक्षिक नियोजकों के सामने यह बहुत बड़ी चुनौती है ।

सर्वप्रथम सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य संविधान लागू होने से 10 वर्ष की अवधि में प्राप्त करना था । ऐसा न होने पर अवधि आगे बढ़ाई गई । लगता है, यह शत प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य सातवीं योजना की समाप्ति तक भी प्राप्त न हो सकेगा । ऐसी स्थिति में दो सुझावों पर विचार किया गया । प्राथमिक शिक्षा 6—14 के बजाय 6–11 आयु वर्ग की ही मानी जाय तथा इस लक्ष्य को 1990 तक प्राप्त किया जाय । स्पष्ट हो गया है कि औपचारिक शिक्षा से ये लक्ष्य प्राप्त नही हो सकते हैं, ऐसा मानने के पर्याप्त आधार प्रकाश में आते हैं, अतः सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के लिए शिक्षा के अन्य अनौपचारिक साधन खोजे जायें ।

प्राथमिक शिक्षा के विकास हेतु या साक्षरता का प्रतिशत बढ़ाने के लिए समय-समय पर देश में विभिन्न प्रयास किये गये हैं, यथा-इच वन टीच वन, प्रौढ़ शिक्षा, प्रहर पाठशाला, रात्रि कक्षाएँ, ग्रीष्मकालीन विद्यालय, मौसमी विद्यालय, अंशकालीन शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, केंडवरीज के समय अन्य स्वयं सेवी संस्थाओं के प्रयत्न । इन सभी प्रयत्नों के बाद भी आज स्थिति यह है कि देश में साक्षरता का प्रतिशत लगभग 36·23 ही है । आज भी 63·77 प्रतिशत निरक्षर लोग हैं । क्षेत्रवार सामाजिक वर्गानुसार, पुरुष-महिला के अनुसार आज भी बहुत अधिक अन्तर है । केरल में साक्षरता का प्रतिशत 70·4 है तो राजस्थान में 24·38 ही है । पुरुष-महिलाओं की साक्षरता की स्थिति तो और भी भयावह है । केरल के ग्रामीण क्षेत्रों में नारी साक्षरता 64 7 प्रतिशत है तो राजस्थान में 5 4 प्रतिशत ही है । यदि सघन प्रयत्न ही किये गये तो इस शताब्दी के अन्त तक विश्व बैंक के एक अनुमान के अनुसार सर्वाधिक निरक्षर लोग भारत में होंगे और यह संख्या विश्व निरक्षरता की 54 8 प्रतिशत होगी । इतने विशाल देश के लिए साधनों का निश्चित रूप से अभाव है । भारत के प्राथमिक विद्यालयों में 40 प्रतिशत के पास भवन, 41·5 प्रतिशत के पास श्याम-पट्ट, 53·4 प्रतिशत के पास क्रीड़ांगण, 59 5 प्रतिशत के पास पीने के पानी की व्यवस्था, 72 प्रतिशत में पुस्तकालय तथा 80 प्रतिशत में शौचालय ही नहीं हैं । सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के पक्षधरों को प्रो० आदिशैय्या के इन शब्दों को याद रखना चाहिए कि यदि भारत में सन् 2000 तक शत प्रतिशत साक्षरता प्राप्त

करनी है तो हर दस मिनिट में 210 छात्रों के लिए एक नया विद्यालय खोलते रहना होगा।

गाँवों में बालिकाओं की शिक्षा पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है कि ग्रामीण तथा शहरी शिक्षित बालिकाओं की संख्या में भारी अन्तर पाया जाता है। ग्रामीणों मे मुख्यतः ग्रामीण बालिकाओं में शिक्षा के विकास की चर्चा करते समय निम्न बातों पर भी ध्यान देना उपयोगी रहेगा—

गाँवों मे माता-पिता अपनी बच्चियों को विद्यालय भेजने में उदासी बताते हैं। यह तो मानना चाहिए कि तुलनात्मक रूप से स्कूल आने वाली ग्रामीण बालिकाएँ कुछ अधिक उम्र की होती हैं। अधिकांश ग्रामीण विद्यालय एक अध्यापकीय होते हैं, उनमें भी समय पर महिला अध्यापिका के न मिलने से पुरुष शिक्षक को नियुक्ति दे दी जाती है और वह भी कॉलेज से निकले नवयुवक को ऐसी स्थिति में बालिकाओं की शिक्षा के प्रति ग्रामीण माता-पिता की उदासी दूनी हो जाती है। प्राथमिक स्तर पर राष्ट्र व्यापी भारी आर्थिक व्यय के कारण बालिकाओं के लिए पृथक स्कूल नही पाये जावें। यद्यपि कुछ राज्यों में विधि द्वारा ऐसा कर दिया गया है।

इस समस्या का एक हल तो यही सुझाया जा सकता है कि एक ही स्कूल में पुरुष तथा महिला दोनो को अध्यापक रखे जाय। पर एकल अध्यापकीय स्कूल में कैसे होगा? विश्व के कई देशों में बच्चे तथा बच्चियों के लिए दोनो प्रकार के स्कूलों मे अधिकांश महिला अध्यापिकाएँ ही होती हैं। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए कि महिला अध्यापिका के रूप में मातृ हृदय ही विद्यार्थियो के कोमल मन को वांछित दिशा में मोड़ सकता है। प्रारम्भ में महिला अध्यापिकाएँ पर्याप्त संख्या में न मिलें, पर शिक्षा के विकास के साथ इस स्थिति मे सुधार आयेगा।

जिस विद्यालय मे अध्यापको के दो पद हो, वहाँ एक दम्पति को नियुक्ति कर दी जानी चाहिए। इससे मुख्यावास पर न रहने की समस्या भी हल हो सकती है। पर कठिनाई यह है कि आज गाँवों मे ऐसे दम्पति नही मिलेंगे जिनकी पत्नियां पढ़ी लिखी हों, यदि किसी ग्रामीण नवयुवक की पत्नी पढ़ी लिखी है भी तो वह काम नहीं करना चाहती तथा शहरों मे पाली पोसी गई बालिकाएँ स्वेच्छा से वहाँ काम करना नही चाहतीं। इसके

साथ ही दो अध्यापकीय स्कूलों में एक पुरुष तथा उसकी पत्नी से भिन्न अन्य महिला अध्यापिका की नियुक्ति भी प्रायः नहीं की जाती है । एक से अधिक पुरुष अध्यापकों के साथ तो एक महिला अध्यापिका काम करती हुई मिल सकती है ।

पति पत्नी अध्यापक हों, ऐसे जोड़े प्राप्य करने में कठिनाई आ सकती है । ऐसी स्थिति में यदि अध्यापक की पत्नी कम पढ़ी लिखी हो तो भी उसे अध्यापिका के पद नियुक्ति दे दी जानी चाहिए । ऐसी स्थिति में वह विद्यालय में आने वाली बालिकाओं की देखरेख तथा मार्गदर्शन कर सकेगी तथा माता-पिताओं की चिन्ता भी दूर होगी । वह अपने पति की जिम्मेदारियों में भी हिस्सा बँटा सकती है । यदि वह कम पढ़ी लिखी है तो भी बालिकाओं का गृहकार्य में तो मार्गदर्शन कर ही सकती है । विद्यालय में उसका कर्मचारी के रूप में होना ही बालिकाओं को विद्यालय के प्रति आकर्षित करना है ।

विद्यालय समय से पूर्व या बाद में वह विद्यालय भवन का समाज शिक्षा केन्द्र के रूप में उपयोग कर सकती है जिससे विद्यालय में प्रौढ़ तथा वृद्ध महिलाएँ भी आ सकेंगी । यदि जगह की कमी पड़े तो विद्यालय में एकाध कमरा और बनवाया जा सकता है । योग्यताओं के अभाव में यदि उसे अध्यापिका के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है तो उसे मानदेय दे दिया जाय ।

व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि अध्यापक के पद पर नियुक्ति पा कर, दो तीन या चार वर्ष नौकरी करके वे विवाह के बाद नौकरी छोड़ देती है । सामान्यतया राजकीय सेवा में आप्रवेशन की आयु 25–30 वर्ष है और इसी उम्र में अधिकांश लड़कियों की शादी हो जाती है । कुछ उदाहरणों मे एक दो वर्ष इधर-उधर हो सकते हैं, शादी के बाद सर्विस छोड़ने को उद्यत हो जाती है । इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए महिलाओं के लिए आप्रवेशन की आयु पुरुषों से भिन्न रखी जाय । अधिक आयु की लड़कियों या महिलाओं को अध्यापन कार्य दिया जाना लाभप्रद रहेगा, इस प्रकार वे भी अधिक उत्साह से काम करेंगी । इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि विवाह के बाद यदि कोई महिला 4–5 या इससे भी अधिक वर्ष की अवधि का निर्वेतन अवकाश चाहे तो स्वीकार कर दिया जाय । इससे वे जहाँ एक ओर सुखी दाम्पत्य जीवन बितायेंगी, वहीं वे एक

निश्चित अवधि के बाद, दूसरी ओर, संतुलित रूप से समाज की अधिक अच्छी सेवा कर सकेगी। अवकाश स्वीकार करने के कारण उनके स्थानों पर अन्य महिला आशार्थियों को भी काम मिलेगा।

महिलाओं में शिक्षा का विकास करने के लिए, महिला अध्यापिकाओं की कमी को दूर करने के लिए, अन्य कठिनाइयां हल करने के लिए स्वयं महिलाओं को ही आगे आना होगा। तभी बालिकाओं की शिक्षा का विकास होगा।

इन विकट परिस्थितियों में शिक्षा के अनौपचारिक साधन ही आशा की किरण हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में अनौपचारिक शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। नागरिकों में नई चेतना जगी है। 1990 तक सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य बिना अनौपचारिक साधनों का दोहन किये पूरा नहीं किया जा सकता। अन्य सुविधाओं की कमी की स्थिति में तथा अपने लचीले स्वरूप के कारण यह पद्धति अन्य कई दोषों का भी निवारण कर सकती है। ऐसा करके अपव्यय एवं अवरोधन का सफल एवं सटीक निदान किया जा सकेगा।

अनौपचारिक शिक्षा पर छठी योजनावधि से ही अपेक्षाकृत अधिक ध्यान एवं बल दिया गया है तथा परिणाम भी उत्साहवर्द्धक रहे हैं। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े राज्यों में 68 हजार केन्द्र खोले गये जिनमें से 90 प्रतिशत शिक्षा के ही केन्द्र थे। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े राज्यों में अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों में 14·9 लाख विद्यार्थियों का नामांकन किया गया इनमें 92 प्रतिशत प्राथमिक छात्र थे। मार्च, 1985 तक पूरे देश में 2 लाख ऐसे केन्द्रों पर 58 लाख विद्यार्थी पढ़ रहे थे पर शहरी ग्रामीण एवं बालक-बालिका की दृष्टि से काफी असंतुलन है जिस पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। आयु वर्ग 6-14 के 76 प्रतिशत बालक विद्यालयों में है तथा देश में 93·4 प्रतिशत तक नामांकन हुआ है। पर पृथक-पृथक राज्यों की दृष्टि से विचार करें तो स्थिति अत्यन्त निराशाजनक लगती है। नामांकन का विस्तार 17 से 62·9 प्रतिशत तक है। सबसे बड़ी बात यह है कि पहली कक्षा में प्रवेश पाने वाले 100 बच्चों में से 23 बच्चे ही आठवीं कक्षा तक पहुंचते हैं, 77 तो इससे पूर्व ही रुक जाते हैं, बेचारे गरीब दोहरे पिस रहे हैं—माता-पिता विपन्न तथा अभावग्रस्त हैं तो बालक अज्ञान के संगी साथी/स्थिति वहां और भी दयनीय बन जाती है जिन परिवारों में 6-11

आयु वर्ग के बच्चे परिवार में प्रथम सदस्य के रूप में प्रथम बार विद्यालय के दर्शन कर रहे हैं, उन परिवारों के सभी सदस्य निरक्षर हैं तो कहां से उन्हें उत्प्रेरणा मिलेगी ? कौन विद्यालय के कार्य में मार्ग दर्शन करेगा ? कब सांस्कृतिक धरोहर के प्रति गर्व एवं प्रसन्नता अनुभव करेंगे ? कब उनमें सहिष्णुता का विकास होगा ? कब वे छोटे हित को बड़े हित के सामने नजर अंदाज कर सकेंगे ? कुल मिला कर स्थिति प्रभावी एवं कारगर प्रयत्नों की अपेक्षा करती है।

प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों की योग्यताओं में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। सन् 1951 में स्नातक अध्यापक मात्र 1 प्रतिशत थे जो 1978 में बढ़ कर 17 8 प्रतिशत हो गये। मैट्रिक से कम शिक्षित अध्यापक 1951 में 34·4 प्रतिशत थे जो 1978 में घट कर 22 7 प्रतिशत ही रह गये।

जहां तक अनौपचारिक शिक्षा के लिए अध्यापकों के मार्गदर्शन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें चल रही हैं। प्रथम के अनुसार आज जो पर्यवेक्षण अधिकारी उपलब्ध हैं, उनकी सहायता ली जाय, शिक्षित होने से ये नेतृत्व कर सकते हैं, प्रशिक्षण दे सकते हैं। दूसरी ओर, अनौपचारिक शिक्षा के लिए उनकी मदद बिल्कुल नहीं ली जानी चाहिए, क्योंकि उनका मस्तिष्क हर काम औपचारिक रूप से करने का अभ्यासी बना हुआ है तथा वे वहां भी जाने या अनजाने में अपने सिद्धान्त एवं अपनी कार्य प्रणाली थोपेंगे जिससे न्यूनाधिक रूप से सिद्धान्तः अनौपचारिक शिक्षा की हानि होगी और मूल भावना प्राप्त न हो सकेगी।

जैसा कि बताया गया है, स्थिति में ज्यों-ज्यों सुधार का प्रयत्न किया गया, स्थिति और बिगड़ती गई। एक ओर माता-पिता की निर्धनता दूसरी ओर साधन सुविधाओं का अभाव तथा विद्यालयों का नीरस वातावरण फलतः अभिभावकों की शिक्षा से रुचि कम होने लगी तब प्रवेश प्राप्त किये विद्यार्थी भी या तो पढ़ाई पूरी करने के पूर्व ही विद्यालय छोड़ देते या वे विद्यालय आने के बजाय परिवार की सहायतार्थ अन्यत्र उपार्जन की क्रिया से जुड़ना पसंद करते। यह समस्या छात्रों के फेल होने से भी गम्भीर बनी है। फेल होने वाले विद्यार्थी की पढ़ाई में रुचि नहीं रहती, वह कक्षा से अध्यापक की आंख बचाकर भागना चाहता है। प्रसन्न होकर विद्यालय समय

की प्रतीक्षा करना, फिर हंसते-हंसते विद्यालय आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इन सब स्थितियों में निरक्षरता की समस्या पर बहुमुखी प्रहार किया जाना चाहिए। विद्यालय का वातावरण सरस बनाना, अध्यापकों का संवेदनशील व्यवहार, विद्यार्थियों की सुविधानुसार विद्यालय समय का निर्धारण, शिक्षा को जीवन से जोड़ना, शिक्षा को उद्देश्य मूलक बनाना; आदि इसी प्रकार की कई बातें हो सकती हैं। ये साधन इस बात के लिए सहायक होंगे कि विद्यालय में प्रविष्ट छात्र अब पढ़ाई पूरी करने के पूर्व विद्यालय न छोड़ें। पर जो विद्यालय छोड़ चुके हैं या विद्यालय एक या अन्य कारणों से विद्यालय नहीं आ रहे हैं, उनको कैसे विद्यालय के क्षेत्र में लाया जाय? उनके लिए शिक्षा की क्या व्यवस्था हो? इसके लिए शिक्षा की अनौपचारिक विधियों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए। इस विधि में वायु में विद्यालय, दीवालहीन विद्यालय, मुक्त विद्यालय, खुला विद्यालय, दूरस्थ शिक्षालय, दूरदर्शन, केसेट रेडियो, पत्राचार पाठ्यक्रम, अंशकालीन शिक्षा, सांध्य कक्षाएँ आदि को सम्मिलित किया जाता है। इन साधनों में मुक्त विद्यालय तुलनात्मक रूप से कितना सस्ता है:—

प्रतिछात्र तुलनात्मक लागत (पौण्डों में)[1]

मद	कुल विद्यालय	परम्परित व्यवस्था
आवृति लागत	250	940
पूंजी लागत	165	3000
साधन लागत	268	1600

ऊपर के आंकड़ों से स्पष्ट है कि कई गुनी कम लागत के कारण मुक्त विद्यालय की व्यवस्था साधनहीन भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इस विधि के उद्देश्य यों बताये जा सकते हैं:

ज्ञानप्राप्ति के जिज्ञासु विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधायें उपलब्ध करवाना,

---

1. प्रो. जी. राम. रेड्डी (वी. के. राय द्वारा उद्धरित) खुले विश्व-विद्यालय के घेरे शिविरा बीकानेर. प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निदेशालय खण्ड 26 अंक 7 जनवरी 1986 पृष्ठ 355

जो विद्यार्थी विद्यालय किन्हीं कारणोंवश छोड़ चुके हैं तथा उपार्जन के कार्य में लग गये हैं, उन्हें शिक्षा का लाभ पहुंचाना, जिससे वे जीविकोपार्जन हेतु बेहतर सुविधायें प्राप्त कर सकें एवं ज्ञान के विस्फोट से प्राप्त नवीन ज्ञान से अपने को परिचित रख सके।

जो विद्यार्थी विद्याध्ययन हेतु विद्यालय में आना ही नहीं चाहते, उन्हें शिक्षा के प्रति सजग बनाना तथा साक्षर बनाना,

विद्यार्थियों को अपनी फुर्सत के समय में अपनी सीखने की गति से, अपनी पसंद के विषयों में शिक्षित करना तथा स्थान, समय विभाग चक्र, अध्यापन योजना से मुक्त रखना जिससे अनौपचारिक विधि सही रूप में व्यवहृत हो सके। विद्यार्थी स्वयं निश्चय करे कि उसने क्या व कितना सीखा है? शिक्षा प्राप्त करके वह किस कार्य के लिए तैयार हो गया है, इसके लिए वह किसी अन्य अभिकरण से प्रमाण-पत्र की प्रतीक्षा न करे, बल्कि वह स्वयं संतुष्ट हो ले।

विद्यार्थियों के दिमाग में स्कूल के नियमित कालांशों, विषयों, गृह कार्य एवं परीक्षाओं का डर दूर करना।

अनौपचारिक विधियों का धीरे-धीरे इतना जाल फैलाया जाय कि शिक्षा की इस स्तर की व्यवस्था सरकार के नियन्त्रण से निकल कर सीधी नागरिकों के हाथ में आ जाय। जिससे वे इसे अनुभूत आवश्यकता के अनुसार ढाल सकें। इसीलिए कुछ अधिकारियों का मानस भी ऐसा बनने लगा है कि शिक्षा की औपचारिक संस्थाओं को भी कुछ अंशों तक अनौपचारिक बनने दी जाय। जिससे वे स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कार्य कर अधिक उपयोगी भूमिका निभा सकें।

अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से कृषकों के लिए ऐसे कार्यक्रम आयोजित करना कि जिससे उनका जीवन बेहतर, समृद्ध एवं उपयोगी बन सके तथा शिक्षा उनकी आर्थिक उन्नति में सहायक सिद्ध हो। और

अंत में, पाश्चात्य शिक्षाविद्, रीमर के अनुसार, "हमारी परम्परित विद्यालय पद्धति मर गई है एवं वह समाज का कोई

भला नहीं कर पा रही है, अतः हमें शिक्षा के नये साधनों की खोज करनी है।'' [1]

अनौपचारिक विधि के दूरस्थ शिक्षा के साधनों यथा–दूरदर्शन, रेडियो, कैसेट, पत्राचार पाठ्यक्रम पर विचार करते समय इस विधि के दोषों, कमियों तथा सीमाओं पर भी ध्यान देना होगा :—

1. इनसे विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के बीच अन्तःक्रिया व्यापार सम्भव नहीं होगा, बालक तथा अध्यापक आमने-सामने नहीं होंगे। बच्चों के व्यक्तित्व की रचना में शिक्षक का जो योगदान होता है, वह न हो पायेगा। क्योंकि बच्चा केवल पुस्तक से ही नहीं सीखता, वह अपने अध्यापक के आचरण, व्यवहार, सिद्धान्त तथा जीवन दर्शन से भी सीखता है। इस प्रकार छात्रों का अधिगम अपूर्ण एवं अनुपयुक्त भी रह सकता है।

2. विद्यार्थियों की काठिन्य निवारण की स्थितियाँ भी नहीं बन पायेगी, इसके लिये कोई वैकल्पिक व्यवस्था पर विचार करना होगा।

3. विज्ञान की शिक्षा प्रयोगों के बिना अधूरी रहती है। इस कमी को कैसे पूरा किया जायेगा, इस पर भी पूर्व में ही सोच-विचार किया जाना चाहिए। कारण कि प्राथमिक स्तर पर भी विज्ञान का पाठ्यक्रम भारी भरकम होने लगा है।

4. उच्च स्तर की पाठ्य सामग्री तैयार करना कठिन होगा, क्योंकि सम्भव है कई विषयों के निष्णात अध्यापक न मिल पायें। इसका आधार यह है कि आज भी जहाँ-जहाँ पत्राचार पाठ्यक्रम चल रहे हैं वहाँ की पत्राचार पाठ्य सामग्री गुणवत्तात्मकता की दृष्टि से असन्तोषजनक है, निम्न स्तरीय है।

5. सर्वाधिक महत्वपूर्ण कि दूरस्थ शिक्षा के साधनों से वयस्क के समान ही 6–11 या 6–14 वर्ष की आयु वर्ग के बालक उतना ही लाभ

---

1. श्रीमती कृष्णा माहेश्वरी द्वारा उद्धरित, खुला विश्वविद्यालय, साहित्य परिचय आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, खण्ड 18, अंक 10, अक्टूबर, 1983, पृष्ठ 5

नहीं सकते हैं, उनकी समझ बूझ तथा अवबोध की सीमायें हैं। वयस्क पूर्व से शिक्षित हो सकते हैं, आगे की शिक्षा का उद्देश्य उनके सामने स्पष्ट है, अध्ययन की तकनीक भी वे जानते हैं। प्राथमिक स्तर की शिक्षा पा रहे विद्यार्थियों की दृष्टि से ये सीमायें महत्वपूर्ण हैं, इन पर भी मिल बैठ कर विचार किया जाना चाहिए।

अनौपचारिक विधि से जुड़ी इन कठिनाइयों तथा सीमाओं का उपचार

1. विद्यार्थियों की कठिनाईयों को हल करने के लिए अल्पकालिक सम्पर्क शिविर आयोजित किये जा सकते हैं तथा सन्ध्या में, यदि सम्भव हो तो, कुछ समय के लिए कक्षाओं की भी व्यवस्था की जा सकती है।

2. विज्ञान के प्रयोग के लिए पाश्चात्य देशों में तो कीट्स के रूप में सामग्री विद्यार्थियों को ही दे दी जाती है जिससे वे अपनी फुर्सत के समय प्रयोग कर सकें। फिर भी सीमायें तो रहती ही हैं। यद्यपि इस व्यवस्था पर विचार किया जाना उचित लगता है।

3. हर स्थिति में सुधार की सम्भावना रहती है। इस दृष्टि से अच्छी एवं स्तरीय पाठ्य सामग्री की रचना के लिए समय-समय पर पाठों का संशोधन होता रहना चाहिए। पाठों की गुणवत्तात्मकता बनाये रखने के लिए सुयोग्य अध्यापकों से ही पाठ लिखवाये जाने चाहिए।

शिक्षा की अनौपचारिक विधि देश में समय की मांग है बिना इसकी सहायता के निरक्षरता समाप्त नहीं की जा सकती। विश्व के सभी देशों में इसे स्वीकार किया गया है, इसे भारत में भी स्वीकार किया ही जाना चाहिए। यदि इस विधि से शिक्षा का स्तर गिरता है तो स्तर बनाये रखने के लिए अन्य साधन तथा तरीके खोजे जाने चाहिए।

यहाँ शिक्षा की अनौपचारिक विधि के आलोचकों को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि पाश्चात्य देशों में अनौपचारिक शिक्षा की आवश्यकता ज्ञान के विस्फोट के कारण, विकसित एवं परिशोधित तकनीक से अपने को परिचित रखने के लिए, बेहतर सुविधा प्राप्त करने के लिए,

समय की कमी आदि के कारण जोर पकड़ रही है। पर भारत में स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ तो साक्षरता के विकास के लिए ही इसका सहारा लिया जा रहा है। निरक्षरता का उन्मूलन ही प्रमुख ध्येय है।

मूल आग्रह यह है कि जब तक शिक्षा से समाज सम्मत एवं संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होता, वह शिक्षा व्यवस्था असफल ही रहेगी। ऐसी शिक्षा व्यवस्था पर जोर दिया जाय जो बालक की मौलिक आवश्यकताओं पर विचार करे, बालक के अन्तर्मन को आनन्दित करे, उन्हें सन्तोष दे, शिक्षा से बालक के अन्दर ऐसा प्रकाश जगे कि वह न केवल अपने लिए बल्कि मित्रों व सम्बन्धियों की भौतिक आवश्यकताओं के लिए भी वांछित कर्त्तव्य, अपनी आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं तथा अपनी आभा की श्रेष्ठता के साथ पूरा कर सकें। पण्डित नेहरू के अनुसार, "हम अपनी पूरी ताकत तथा उद्योग धंधों में अपने रास्ते पर चलते रहें, मगर उसके साथ ही साथ यह भी याद रखें कि सहनशीलता, दया तथा बुद्धिमानी के बिना भौतिक धन दौलत धूल और राख भी हो सकती है।"[1] भारत के पूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी डी. जत्ती ने कहा था—"आज के युग में भौतिक प्रगति के लिए विज्ञान की जितनी आवश्यकता है, उसको कल्याणकारी बनाने के लिए आध्यात्मिक मूल्यों की पूर्व प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए।"[2]

ब्रेमल्ड का कहना है कि आज आवश्यकता नई शिक्षा पद्धति के विकास की है। शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन की तत्काल प्रथम आवश्यकता है। उनका आग्रह है कि शिक्षा के पुनर्निर्माण के दर्शन का विकास किया जाय। शिक्षा इतनी उचित होनी चाहिए कि जिससे बालक

---

1. कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) का प्रतिवेदन, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली : प्रबन्धक, प्रकाशन विभाग, हिन्दी संस्करण, 1968, पृष्ठ 26

2. समाचार, अणुव्रत (पाक्षिक) नई दिल्ली : अखिल भारतीय अणुव्रत समिति, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, वर्ष 23 अंक 3-4. सितम्बर 1977, पृष्ठ 73.

इस योग्य बन जाय कि जमीन को अधिक उर्वरा, खानों को अधिक उत्पादक, वाणिज्य व्यवसाय को अधिक व्यापक तथा विस्तृत, देह को अधिक सक्रिय, चित्त को अधिक मौलिक, हृदय को अधिक पवित्र, उद्योगों को अधिक विविधता पूर्ण, तथा राष्ट्र को अधिक सुसंगठित बना सके। विद्यार्थियों को यह बात निरन्तर दिमाग में रखनी चाहिए कि ये दिन उनके लिए दूसरों को सुधारने के नहीं, बल्कि स्वयं को सुधारने के हैं। स्वयं को सुधारने के लिए जब प्राथमिकता से ध्यान दिया जायेगा तो समाज में सुधार का ज्वार उसी तरह उठेगा जिस प्रकार चन्द्रमा की परिक्रमा के प्रभाव से समुद्र का जल ऊपर उठता है।



नवोदय विद्यालय—सजगता आवश्यक

मानव समाज के लिए शिक्षा निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। शिक्षा ही सुखी मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण आधार है—आधार इस अर्थ में कि शिक्षा व्यक्तियों को परिस्थितियों के अनुरूप बनने के लिये शक्ति, सूझ-बूझ, कौशल योग्यता एवं लचीलापन प्रदान करती है। शिक्षा ही सामाजिक विकास को गति प्रदान करती है, मनुष्य को समाजोत्थान के लिये योगदान करने के योग्य बनाती है। सच पूछा जाय तो मनुष्य के शरीर में जो महत्व रीढ़ की हड्डी का है, शिक्षा का वही महत्व मानव जीवन में ही नहीं, राष्ट्रीय जीवन में है।

आज के बालक कल के नागरिक तथा परसों के प्रशासक हैं। उनके व्यक्तित्व, मनोवृत्ति, सामाजिक विश्वास, आदतों, अध्ययन कौशल और सम्प्रेषण योग्यताओं की नींव ही शिक्षा है। आज देश इक्कीसवीं शताब्दी के द्वार पर दस्तक दे रहा है। आज के बच्चे इस शताब्दी के अन्त तक अपनी शिक्षा समाप्त कर लेंगे। इन अंकुरों को विश्व में ज्ञान एवं तकनीक के विस्फोट से निपटने के योग्य बनाने की नितान्त आवश्यकता है, तभी वे भविष्य की चुनौतियों का सामना करने तथा परिवर्तन की गति को तेज करने में समर्थ होंगे और इसके लिए सर्वाधिक प्रभावी साधन शिक्षा ही है। नई शिक्षा नीति शिक्षा को सार्थक बनाने और शिक्षा की सुविधा को अधिकाधिक व्यक्तियों तक पहुँचाने के सरकार के प्रयासों में से एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

प्रश्न उठता है कि नई शिक्षा नीति में नया क्या है? नई शिक्षा नीति क्यों लाई जा रही है?

सन् 1968 में शिक्षा की राष्ट्रीय नीति स्वीकार करते समय यह विचार किया गया था कि शिक्षा का उद्देश्य समान नागरिकता और समान संस्कृति का भाव जागृत करना, नैतिक मूल्यों का विकास करना तथा मानव जीवन की समूची प्रक्रिया को समरसतापूर्ण बनाना है। आज की शिक्षा जीविका की दृष्टि से नौकरी के रूप में छात्रों और उसके अभिभावकों

अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इसी कारण प्राथमिक स्तर से ही शिक्षा के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण विकसित हो जाता है। नई शिक्षा नीति के अनुसार शिक्षा केवल नौकरियां दिलाने का साधन मात्र ही नहीं है।

आज देश में 10 प्रतिशत से अधिक गांवों में एक किलोमीटर क्षेत्र में कोई न कोई स्कूल पाया जाता है। उच्च तथा तकनीकी शिक्षा संस्थानों की संख्या में वृद्धि हुई है फिर भी शिक्षा का विकास बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हुआ है।

प्रधान मंत्री श्री राजीव गांधी ने पदभार ग्रहण करने के बाद अपने प्रथम प्रसारण में जो कार्य योजना प्रस्तुत की थी, उसमें शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी। यह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का दर्शन और शिक्षा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण है। देश में नौकरियों की स्थिति पर फिर से अध्ययन किया जायेगा और उसे नवीन रूप दिया जायेगा।

नवोदय विद्यालयों की स्थापना के उद्देश्य

कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) के अनुसार समान विद्यालय योजना लागू न होने, शिक्षा के स्तरों की साख गिरने तथा ग्रामीण, निर्धन अभिभावकों के प्रतिभावान् विद्यार्थियों को उच्च गुणात्मक शिक्षा उपलब्ध कराना प्रथम स्थान पर महत्वपूर्ण माना गया। इसके साथ ही शिक्षा पर आर्थिक तथा सामाजिक रूप से सम्पन्न लोगों की बढ़ती हुई धाक तथा प्रभाव को समाप्त करने और देश के सभी भागों के बच्चों को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही नई शिक्षा नीति में नवोदय विद्यालय योजना शामिल की गई है।

प्रतिभा के संरक्षण और भावात्मक एकता पर बल दिया गया है। नवोदय विद्यालय खोलने का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक सद्भाव को बढ़ावा देना है, त्रिभाषा सूत्र का सही रूप में सहृदयता के साथ कड़ाई से पालन करना है और आदर्श शिक्षा की दिशा में अग्रणी विद्यालयों का विकास करना है। इन विद्यालयों के 20 प्रतिशत बालक अन्य भाषा क्षेत्रों में स्थित नवोदय विद्यालयों में भेजे जायेंगे।

विद्यालय में परस्पर सक्रिय शिक्षा पर जोर दिया जायेगा। छात्रों को अपनी रुचि के क्षेत्रों में परियोजना गतिविधियों में संलग्न करने को

प्रोत्साहित किया जायेगा । ये विद्यालय क्षेत्रीय या जिला मुख्यालयों पर न बनाये जाकर ग्रामीण क्षेत्रों में बनाये जायेंगे । विद्यालय भवन के निर्माण में स्थानीय सामग्री उपयोग कर काम चलाऊ व्यवस्था की जायेगी । इसके गर्भ में भावना यह है कि छात्र अपने घरेलू वातावरण से अलग-थलग न हो जायें । नई इमारत केवल तब बनाई जायेगी जब अन्य कोई उपाय नहीं होगा ।

सातवीं पंचवर्षीय योजनावधि में देश के प्रत्येक जिले में खोले जाने वाले नवोदय विद्यालय अधिकतर देहाती क्षेत्रों के प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को बिना उनकी आर्थिक स्थिति पर विचार किये, उच्च स्तर की आधुनिक शिक्षा निःशुल्क प्रदान करेंगे । ये विद्यालय आवासीय होंगे और नई शिक्षा नीति के कार्यान्वयन को और अधिक गतिशील बनाने में सहायक होंगे ।

नवोदय विद्यालयों से, इनके आवश्यकतानुसार संख्या में तथा पूर्ण रूप से स्थापित हो जाने पर यह अपेक्षा की जाती है कि वे आस-पास के पड़ोसी विद्यालयों के लिए मार्ग-दर्शन तथा सहायता का कार्य करेंगे, जिससे वे भी अपने में सुधार ला सकें तथा क्षेत्र की शैक्षिक उन्नति में सहायता मिल सके ।

पाठ्यचर्या-समान मूलभूत पाठ्यक्रम

इन विद्यालयों में जीवन मूल्यों, मानव विज्ञान, वाणिज्य, मानविकी और व्यावसायिक शिक्षा के अतिरिक्त शारीरिक शिक्षा में खेल-कूद, व्यायाम एवं योग आदि के साथ ही स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, संवैधानिक अधिकार एवं कर्त्तव्य तथा राष्ट्रीय एकता विकसित करने में सहायक सांस्कृतिक गतिविधियों, ललित कलाओं, परियोजना कार्य, पैदल भ्रमण, शैक्षणिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक महत्व के स्थानों के भ्रमण को भी प्रोत्साहित किया जायेगा । उद्यान, पौध रोपण, स्वच्छता और विद्यालय परिसर की देखरेख का दायित्व छात्रों पर होगा । श्रम का महत्व स्थापित करने और पर्यावरण के प्रति जागरूकता बनाये रखने के लिए विशेष कार्यक्रम संचालित किये जायेंगे ।

यह सम्भव है कि प्रखर बालकों ने एक सीमित विषय क्षेत्र में ही क्षमता-योग्यता अर्जित की है, जबकि अन्य क्षेत्रों में वे उदासीन रहे हैं ।

ऐसे छात्रों के लिए उनकी रुचि के कुछ विषयों में-छोटे समूहों में-विशेष प्रबन्ध किये जायेंगे। छात्रों के चहुँमुखी विकास के लिए हर सम्भव प्रयत्न किये जायेंगे। इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से गठित एक कार्यकारी दल एक विस्तृत परियोजना तैयार करेगा।

तृतीय भाषा :—त्रिभाषा सूत्र पर सही रूप में तथा पूरे मन से व्यवहार होगा। इस सूत्र में हिन्दी, अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषा होगी। हिन्दी भाषी क्षेत्रों के नवोदय विद्यालयों में नई क्षेत्रीय भाषा पढ़ाई जायेगी जिसके पढ़ने वाले बीस प्रतिशत छात्र उपलब्ध होंगे। तृतीय भाषा पढ़ाने के लिये सुयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति की जायेगी। भाषाओं के ऐसे प्रभावी एवं समयबद्ध पाठ्यक्रम होंगे जो उन छात्रों को भाषा की ऐतिहासिक धरोहर और विशेष गुणों के साथ ही साथ उस क्षेत्र की विशेषताओं के बारे में पूर्ण ज्ञान दे सकें जो उस भाषाई क्षेत्र से बाहर के हैं। इससे विभिन्न भाषायी समूहों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन तथा परस्पर गहन समझदारी का नवीन द्वार खुलेगा जो राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं समन्वय को सुदृढ़ करेगा।

अध्यापन का माध्यम :—कक्षा छः, सात और आठ में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा होगी, इसके साथ-साथ हिन्दी एवं अंग्रेजी के विषय सह माध्यम के रूप में पढ़ाये जायेंगे। इस स्तर के पश्चात् सभी नवोदय विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अंग्रेजी हो जायेगा। कक्षा सात या आठ के बाद हिन्दी या अंग्रेजी का माध्यम अपनाने में छात्रों को कठिनाई नहीं होगी क्योंकि भाषाई शिक्षा की आधुनिक तकनीक का उपयोग किया जायेगा।

सह शिक्षा :—भविष्य में महिला शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये एवं गाँवों में शिक्षा का विस्तार करने की दृष्टि से प्रत्येक विद्यालय में कम से कम एक-तिहाई बालिकाओं का प्रवेश सुनिश्चित किया गया है। महिलाओं को इस प्रकार की शिक्षा दी जायेगी कि उन्हें समान अवसर और अधिकार मिल सकें। शैक्षणिक संस्थान सामाजिक चेतना के केन्द्र रूप में कार्य करेंगे। दूसरे शब्दों में बाल अनुरक्षण केन्द्र खोले जायेंगे और गाँवों के घरों में न्यूनतम पारिवारिक सुविधायें उपलब्ध कराई जायेंगी।

विद्यार्थियों का प्रवेश :—नवोदय विद्यालय में प्रवेश का आधार एक परीक्षा होगी और उस परीक्षा में वे सभी बालक-बालिकायें बैठ सकेंगे

जिन्होंने उस जिले के किसी भी स्कूल से पांचवीं कक्षा उत्तीर्ण करली है। इससे स्पष्ट है कि इन विद्यालयों में प्रवेश केवल छठी कक्षा में ही होंगे। इस प्रवेश परीक्षा का आयोजन हिन्दी, उर्दू तथा मातृभाषा में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद करेगी। इन विद्यालयों में प्रवेश के संदर्भ में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षण जिले में इन लोगो की आबादी के अनुपात मे निश्चित होगा और वह राष्ट्रीय आरक्षण से किसी भी सूरत में कम नहीं होगा। इन विद्यालयों में ग्रामीण एवं शहरी विद्यार्थी क्रमश: 70 तथा 30 प्रतिशत होंगे। इन विद्यालयों में प्रवेश विद्यार्थियों को छठी कक्षा में यह मान कर दिया जायेगा कि इससे पूर्व की शिक्षा बालक अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में प्राप्त कर चुके हैं। बच्चों के प्रवेश का उनके माता-पिता की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

आवासीय विद्यालय :—साधन-हीन एवं विपन्न व्यक्तियों के बच्चों को उत्तम शिक्षा की सुविधा उपलब्ध कराने हेतु इन विद्यालयों में छात्रावासों की भी व्यवस्था की गई है। नवोदय विद्यालय में प्रवेश प्राप्त प्रत्येक छात्र-छात्रा निःशुल्क शिक्षा एवं निःशुल्क भोजन प्राप्त करेगा। इस प्रकार नवोदय विद्यालय में प्रत्येक छात्र के रहने, खाने, पोशाक एवं अन्य कपड़े, किताबें कापियाँ व अन्य पठन सामग्री, घर आने-जाने का व्यय, रेल व बस भाड़ा आदि सभी व्यय सरकार उठायेगी। इस प्रकार प्रतिभाशाली छात्र-विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के प्रतिभावान् छात्र बिना अपने परिवार पर अतिरिक्त भार डाले, उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

अध्यापकों का चयन :—इन विद्यालयों में अध्यापको की नियुक्तियां अखिल भारतीय स्तर पर की जायेंगी जिससे सम्पूर्ण देश मे गठित नवोदय विद्यालयों मे कही भी उनका स्थानान्तरण किया जा सकेगा और अध्यापको के इस प्रकार के स्थानान्तरणों से राष्ट्रीय भावात्मक एकता का विकास होगा। अध्यापकों की चयन प्रणाली को बदला जायेगा जिससे प्रतिभाशाली एवं रुचि सम्पन्न व्यक्ति योग्यता एवं निष्पक्ष आधार पर चयित हो सकेंगे। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा आयोजित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयो मे इन शिक्षकों को अभिस्थापित (ओरियन्टेशन) कार्यक्रम मे प्रशिक्षण दिया जायेगा। इस प्रशिक्षण में राष्ट्रीय भावात्मक एकता, समन्वय एव धर्म निरपेक्षता पर आधारित व्यापक दृष्टिकोण का विकास

किया जायेगा तथा बाल केन्द्रित शिक्षा पर बल दिया जायेगा । नवोदय विद्यालयों में कार्यरत अध्यापक अपने परीक्षा-फलों के लिए ही चिन्तित नहीं होंगे वरन् उन्हें विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए उत्तरदायी माना जायेगा ।

नवोदय विद्यालयों का विस्तार :—सरकार की सातवीं पंचवर्षीय योजना में प्रत्येक जिले में इस प्रकार का एक-एक विद्यालय खोलने की योजना है । इस प्रकार 1990 तक पूरे देश में इस प्रकार के 425 अथवा इससे अधिक विद्यालय स्थापित हो जायेंगे । प्रत्येक कक्षा में अधिकतम 40 छात्रों सहित दो-दो वर्ग होंगे, इन विद्यालयों में छठी से बारहवीं कक्षा तक की शिक्षा दी जायेगी । ये विद्यालय आधुनिक शिक्षण सामग्री से सम्पन्न होंगे, यथा—रेडियो, दूरदर्शन, कम्प्यूटर आदि और निश्चय ही सुरम्य खेल के मैदान चित्ताकर्षक प्रयोगशालाएं आदि जिससे प्रत्येक कक्षा के छात्र आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनसे लाभ उठा सकें ।

प्रबन्ध व्यवस्था :—सभी नवोदय विद्यालय पाठ्यक्रम, मूल्यांकन एवं परीक्षा की दृष्टि से केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड से सम्बद्ध होंगे, जबकि वित्तीय व्यवस्था केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व होगा । इन विद्यालयों की स्थापना करने एवं इन्हें सुचारु रूप से चलाने के लिए मानव संसाधन विकास मंत्रालय में सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत समिति के रूप में एक स्वायत्तशासी संगठन बनाया जायेगा । मानव संसाधन विकास मंत्री की अध्यक्षता में यह समिति समय-समय पर इन विद्यालयों का मूल्यांकन एवं निरीक्षण करेगी तथा अनुभवों के आधार पर इनमें सुधार सुझायेगी । इस उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में सरकार ने 1986 में 60 विद्यालय खोले हैं । इस योजना के कार्यान्वयन के लिए सातवीं पंचवर्षीय योजना में 500 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है । केन्द्र सरकार राज्य सरकारों की मदद से इन विद्यालयों की स्थापना करेगी । इस उद्देश्य से कई राज्यों ने इन विद्यालयों की स्थापना के लिए निःशुल्क भूमि देना स्वीकार कर लिया है ।

योजना की समीक्षा :—प्रत्येक अच्छे नये कार्य में कठिनाइयां आती हैं तथा नवोदय विद्यालय भी इसका अपवाद नहीं है । इसीलिये इस योजना से जुड़े अधिकारियों को सजग होकर कार्य करना है । सामान्य नागरिक यह

नहीं समझ पा रहा है कि जब भारत सरकार ने केन्द्रीय विद्यालय खोल रखे हैं तो ये भिन्न नाम से 'नवोदय विद्यालय' क्यों स्थापित किये जा रहे हैं ? केन्द्रीय विद्यालयों के भी वे सभी उद्देश्य हैं जिन्हें नवोदय विद्यालय के उद्देश्यों में भी सम्मिलित किया गया है । केवल आवासीय होना ही उनकी नवीनता है परन्तु कई केन्द्रीय विद्यालय भी आवासीय हैं । केन्द्रीय विद्यालयों का मुख्य कार्य केन्द्र सरकार के एवं अखिल भारतीय स्तर पर देश के किसी भी भाग में स्थानान्तरण योग्य कर्मचारियों के बच्चों को प्रवेश स्वीकार कर शिक्षा देना है तथा वे हर कक्षा में प्रवेश देते हैं, जबकि नवोदय विद्यालयों मे ऐसा नही है । नवोदय विद्यालयों में प्रवेश केवल छठी कक्षा में ही मिलेगा । कई केन्द्रीय विद्यालय उच्च स्तर की शिक्षा देते हैं और कई स्थानों पर तो इतनी अच्छी शिक्षा देते हैं कि अन्य विद्यालय इनके सामने टिक ही नही पाते । ऐसी स्थिति में न तो अन्य केन्द्रीय विद्यालय ही खोलने कठिन थे और न ही उस स्थिति में पृथक प्रशासन समिति बनाने की आवश्यकता होती । केन्द्रीय विद्यालय संगठन के नियन्त्रण, मार्गदर्शन एवं देखरेख में इन्हें भी चलाया जा सकता था । नवोदय विद्यालयों से जुड़े प्रत्येक कार्य के लिये भारत सरकार राशि व्यय करेगी और इस प्रकार यह योजना अत्यधिक व्ययसाध्य सिद्ध होगी । इन विद्यालयों पर केन्द्रिय आर्थिक नियन्त्रण को शुभ लक्षण भी माना जा सकता है । शुभ लक्षण इस अर्थ में कि इन विद्यालयों का सभी व्यय भारत सरकार देगी । राज्य सरकारों के बजट मे कई बार कटौती कर दी जाती है तथा कटौती का भार राज्य सरकारें शिक्षा पद पर स्थानान्तरित कर देती हैं । इस प्रकार बजट कटौती का कोई डर इन विद्यालयों को नही है । केन्द्रीय विद्यालयो को प्राप्त सभी साधन सुविधायें इन स्कूलों में भी उपलब्ध कराई जानी चाहिए । उन्ही विद्यालयों के समान पाठ्यक्रम, मूल्यांकन प्रणाली अपनाई जानी चाहिए और इस प्रकार दोनों का प्रशासन तन्त्र समान होना चाहिए ।

यह सन्देह व्यक्त किया जा रहा है कि इन स्कूलों मे प्रवेश को लेकर धनी मानी लोगो का प्रभाव रहेगा । अब तक इनकी जो प्रबन्ध समितियाँ बनी हैं, उन सब मे शहरी एवं धनी लोगो का ही बाहुल्य है । कहीं ऐसा न हो कि ये लोग आगे चल कर प्रवेश प्रक्रिया को अपने लाभ के लिये ही प्रभावित न करलें । व्यवहार में देखा जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त सभी अभिभावक अपने पुत्र या पुत्री को शहरी विद्यालय में प्रवेश दिलाते समय जो सुविधायें प्राप्त करता है वह उन्हें ग्रामीण विद्यालय मे प्रवेश दिलाते समय

भी प्राप्त कर सकता है। वह अपने बच्चों को कहीं प्रवेश दिलाए, उसकी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक स्थिति का लाभ तो उसे मिलेगा ही। यदि प्रवेश में पक्षपात हुआ या नियमों का पालन न हुआ तो इनका उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा।

इन विद्यालयों में छठी कक्षा में प्रवेश एक राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षा के आधार पर होगा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रवेश परीक्षा में धनी एवं शहरी माता-पिताओं के बच्चे ही उत्तम सम्प्राप्ति प्राप्त कर सकेंगे तथा ग्रामीण एवं प्रतिभावान् बच्चे फिर भी वंचित रह जायेंगे। इस आलोचना का भी उत्तर दिया जा सकता है। यदि यह प्रवेश परीक्षा केवल सूचनाओं पर ही ली गई तो आलोचना सही हो सकती है। पर ऐसा मानना चाहिए कि यह प्रवेश परीक्षा अभिरुचि, अभिवृत्ति, धारणा तथा मान निर्धारण पर आधारित होगी तथा इस प्रकार आलोचना से मुक्ति मिल सकेगी।

कई बार यह भी कहा जाता है कि समाजवादी समाज की रचना के लिये या प्रजातन्त्र में पब्लिक स्कूलें बंद कर दी जानी चाहिए। यदि इस आलोचना में तनिक भी सत्यता है तो फिर स्वयं सरकार ही ऐसे खर्चीले विद्यालय क्यों खोल रही है? क्या सरकार स्वयं अभिजात्य वर्ग पैदा नहीं कर रही है? क्या इनमें शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थी अपने आपको समाज से अलग-थलग नहीं समझेंगे? पर यदि समानता के सिद्धान्त पर सही दृष्टि से विचार किया जाय तो इस आलोचना में कोई बल नहीं लगता है। प्रकृति दत्त असमानता तो मिटाई नहीं जा सकती—काले को गोरा या ठिगने को लम्बा नहीं बनाया जा सकता, पर उसका उसी क्षेत्र में प्रकृतिदत्त अधिकतम सीमा तक विकास ही समाजवाद की नींव है, आधार है। यदि इन विद्यालयों से अभिजात्य वर्ग पैदा होता है या वे अपने को समाज से अलग-थलग श्रेष्ठ समझने लगते हैं तो सरकार को इनमें सुधार करने के लिए गम्भीरता के साथ साधन एवं तरीके खोजने होंगे। इस पर भी आरम्भ में ही विचार कर लिया जाना चाहिए।

ऐसा सुना जा रहा है कि आठवीं कक्षा के बाद शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अंग्रेजी ही रहेगा। इससे एक तो अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो जायेगा तथा जो छात्र क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए भी रास्ते बन्द हो जायेंगे, फिर भले ही

उनका प्रवेश योग्यता तथा सम्भावनाओं के आधार पर ही हुआ हो । इस आलोचना में भी सत्यता नही दीखती क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि कोई भी छात्र अपनी क्षेत्रीय भाषा में नही पढ़ना चाहेगा—वह अंग्रेजी में पढ़कर गर्व अनुभव करता है । हिन्दी माध्यम वाले स्कूलों में भी अंग्रेजी माध्यम की सुविधाएँ उपलब्ध होंगी ही । अतः दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों के लिए कोई कठिनाई नही होगी ।

कई बार यह भी दबी जबान से आरोप लगाया जा रहा है कि सरकार इन स्कूलों के माध्यम से ग्रामिणों को अनुगृहीत कर रही है जिससे वे आगामी साधारण निर्वाचन के समय उन्हें वोट दे सके या अन्य रूप में सहायता पहुँचा सके । यदि ऐसा ही होता है तो यह देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा ।

अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के जिन विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जायेगा सम्भव है वे बालक प्रखर बुद्धि वाले न होकर सामान्य या निम्न बुद्धि स्तर के हों । ऐसी स्थिति में प्रतिभावान् एवं सम्पन्न बच्चों के साथ कक्षा मे उनका सामजस्य कैसे होगा ? सामान्य या निम्न बुद्धि स्तर के बालक का ऐसी स्थिति मे, सभी क्षेत्रों मे सहज विकास न हो सकेगा । यदि अध्यापक सामान्य बालको की दृष्टि से कक्षाध्यापन करेगा तो प्रखर बालको को असन्तोष होगा क्योकि उन्हें चुनौतीपूर्ण स्थितियां नही मिल रही है और यदि वह प्रखर बालको की दृष्टि से पढ़ाए तो सामान्य या निम्न बुद्धि वाले विद्यार्थी लाभान्वित नही होगे । मोटे रूप से सब बातो के कारण अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के बालकों में हीन भावना विकसित हो सकती है, जिससे उनका व्यक्तित्व भी प्रभावित होगा । इन स्थितियों में, कक्षाकक्ष में, छात्रावास में, खेल के मैदान मे, और कहा नहीं, अध्यापक की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील होगी ।

ये विद्यालय छात्रावासो से जुड़े हुए आवासीय हैं । इसलिए छात्रावास जीवन मे पाई जाने वाली सभी बुराइयां तथा कमियां यहां भी हो सकती हैं । पर छात्रावास जीवन की अच्छाइयां भी तो होती, उनका लाभ तो विद्यार्थियो को ही मिलेगा । एक साथ उठना-बैठना पूरे छात्रावास को ही सरवती यात्रा पर ले जाना, बात की बात मे सभी छात्रो को सूचना दे

भाचरण का भी विद्यार्थियों पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहेगी। छात्रावास जीवन में पाई जाने वाली बुराइयों के प्रति छात्रावास अधीक्षक को, निर्विवाद रूप से, निरन्तर सजग रहना होगा। ऐसी व्यवस्था पर सामूहिक जीवन की बुराइयों को, यदि हो तो, न्यूनातिन्यून किया जा सकता है।

यह भी संदेह व्यक्त किया जा रहा है कि आठवी कक्षा के बाद 20 प्रतिशत बच्चो को अन्य राज्यों में कैसे भेजा जायेगा ? भारतीय माता-पिता अपने वात्सल्य एवं भावनात्मक सम्बन्धों के कारण मात्र 8वी कक्षा तक शिक्षा पाये बच्चों को पृथक नही करना चाहेंगे। इस आलोचना' में थोड़ी बहुत सहायता हो सकती है। पर तीन वर्ष तक पढ़ने के बाद, सम्भव है, बच्चा स्वयं ही अन्य प्रान्तों मे पढ़ने के लिए आग्रह करे, प्रसन्नता से वहाँ जाना स्वीकार करे तथा इस आलोचना मे कोई सत्यता न भी रहे।

जिले में स्थित एक विद्यालय जिले के कुछ ही छात्रों को उच्च स्तरीय शिक्षा दे सकेगा। फिर शिक्षा के समान अवसर का उद्देश्य आकाश कुसुम ही बना रहेगा। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए ऐसे अनगिनत स्कूल तो खोले नहीं जा सकते। फिर सुधार के लिए प्रयत्न तो हर स्तर पर तथा हर स्थिति मे किये ही जाने चाहिए। अच्छी उच्च स्तरीय शिक्षा देने वाले अनगिनत विद्यालय नहीं खोल सकते-इसलिए इस दिशा मे प्रयत्न ही नही किये जाय-यह तो पलायनवादी दृष्टिकोण है जिसे सराहनीय कदम नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय-किसी विशाल कार्यक्रम को हाथ में लेने के पूर्व छोटे रूप में उस पर प्रयोग करना चाहिए तथा प्रयोग के आधार पर प्राप्त अनुभवों के प्रकाश में, कार्यक्रम में संशोधन करना चाहिए, तभी विशाल स्तर पर लागू करने की योजना बनानी चाहिए।

अन्तिम पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण कि इन चुने हुए प्रतिभा सम्पन्न बालकों के लिए प्रतिभा सम्पन्न एवं अध्यापन को समर्पित अध्यापकों के अभाव की सम्भावना निरन्तर ही बनी रहेगी, क्योंकि प्राज काम करने [illegible] मानस किसी का है ही नही। इन विद्यार्थियों से अच्छे उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिये शिक्षको की लम्बे समय की गहन ट्रेनिंग की व्यवस्था होनी चाहिए और इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बिन्दु यह है कि इस कार्य के लिए सही एव उपयुक्त का चयन किया जाय। इस पूरी योजना में इस

पहलू पर ध्यान नहीं दिया जाना खटकता है । वेतन के रूप में उच्च पारिश्रमिक सदा उच्च स्तर के अध्यापन का बीमा नहीं है । व्यवहार में देखा जाता है कि वेतनमानों में सुधार होने पर भी शिक्षा के स्तर में सुधार नही हुआ है । इससे स्पष्ट है कि आदमी केवल रुपये के लिए ही काम नहीं करता है, अन्य अभौतिक घटक भी है जो आदमी को काम करने के लिए प्रबल रूप से प्रेरित करते हैं तथा उन पर बेहतर हित में ध्यान दिया ही जाना चाहिए ।

अकाल, घटिया सामान खरीदना, पूरा सामान प्राप्त नही होना, निर्धन भारत के लिए सब साधन सुविधायें जुटा ली जायेंगी—यह भी प्रश्न चिह्न बना हुआ है ।

सुधार के लिए सुझाव

इन विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जानी चाहिए । इससे विद्यार्थियों मे श्रम के प्रति निष्ठा तथा स्वरोजगार के प्रति रुचि का विकास होगा ।

अल्प आय तथा अर्द्धशिक्षित माता-पिताओं के पुत्र-पुत्रियो के लिये एक निश्चित सख्या में आरक्षण कर दिया जाना चाहिए ।

जो भी हो, इनमे से कुछ आलोचनायें तो स्वयं विद्यालयों की नही, व्यवस्था की है जिन्हें नियमो का कडाई से पालन कर दूर की जा सकती है । नवोदय विद्यालयो को कार्य करते अभी इतना समय भी नही हुआ है कि उनका मूल्याकन किया जाय या मूल्यांकन के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाय एव सुझाव प्रस्तुत किये जाएँ । फिर हर अच्छे कार्य में कठिनाइयां आती है और अनुभवो से सुधार को बल मिलता है । यही बात नवोदय विद्यालयो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है । बहरहाल, अभी तो नवोदय विद्यालयो के सुखद एवं उज्ज्वल भविष्य की कामना ही की जा सकती है ।

—— ——

खुला विश्वविद्यालय

शिक्षा सबको सुलभ हो, इस मान्यता को लेकर खुले विश्वविद्यालय की योजना का जन्म हुआ है। विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था का विकल्प अधिक सस्ता होना चाहिए जिससे सभी लाभान्वित हो सकें, एक व्यक्ति की सफलता किसी दूसरे व्यक्ति की सफलता पर, उसकी कीमत पर निर्भर न हो, प्रत्येक व्यक्ति सीखने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है, समृद्ध लोग जितना सुख भोगते हैं, उससे कम भोगें तथा गरीब जितना मांगते हैं, उससे अधिक मांगें, आदि धारणायें खुले विश्वविद्यालय की योजना के मूल में हैं।

खुले विश्वविद्यालय का अर्थ :

इच्छुक हर व्यक्ति के लिये, किसी भी स्थान पर, किसी भी साधन यथा-रेडियो, दूरदर्शन, केसेट, पत्राचार, सम्पर्कक्षायें आदि द्वारा नवाचार के रूप में शिक्षा की लचीली व्यवस्था एवं स्वभाव के अनुकूल सार गुणवत्ता के साथ उच्च शिक्षा का जनहित में प्रजातन्त्रीकरण अथवा सबमें शिक्षा का प्रचार प्रसार ही खुले विश्वविद्यालय का आधार है। इस प्रकार खुला विश्वविद्यालय उसे कहेंगे जो देश में सामान्य शिक्षा का एक विशाल कार्यक्रम, जिसमें देश के दूरस्थ क्षेत्रों के विद्यार्थियों को, उनकी सीखने की क्षमता और अपने परिवार की मदद करने की योजना को बिना हानि या किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए, शिक्षा प्राप्त करने के अधिकाधिक अवसर प्रदान करें। खुला विश्वविद्यालय पठन-पाठन के नवीन प्रयत्नों को मूर्तरूप देने का स्थान है, जहाँ वर्षों से उपेक्षित जिज्ञासुओं की शिक्षा की व्यवस्था की जाती है।

इस विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में प्रवेश के लिए किसी विशेष स्तर की आवश्यकता नहीं है अर्थात् इस विश्वविद्यालय के द्वार सभी के लिए बिना किसी विचार या आरक्षण या प्रतिबन्ध के खुले हुए हैं। यह स्थान की दृष्टि से भी खुला हो अथवा इसे किसी स्थान विशेष या विश्वविद्यालय प्रांगण की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक नई तकनीक इस विश्वविद्यालय में प्रयुक्त की जाती है जिससे छात्रों की क्षमता का अधिकाधिक विकास हो सके। खुले विश्वविद्यालय का मुख्य आग्रह उपयुक्त विचार, नवाचारों के लिए तत्पर तथा निरन्तर प्रयोग एवं अनुसंधान के लिए सक्रिय रहना है। साथ ही साथ खुले विश्वविद्यालय किसी भौगोलिक या राजस्व के क्षेत्र तक ही सीमित नही रहते हैं। खुला विश्वविद्यालय, इस प्रकार, शिक्षा जगत में नई विचारधारा, नया दर्शन नई आवश्यकताएँ एवं नवीन महत्वपूर्ण प्रयोगों का स्थल है।

इग्लैण्ड के 1971 में स्थापित खुले विश्वविद्यालय में अधोलिखित पांच प्रकार के विद्यार्थियों को प्रवेश स्वीकार किया जाता है :

1. अपनी युवावस्था में उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वंचित प्रौढ़ प्रवेश पाते हैं।

2. ये कार्यरत व्यक्ति जो अपने क्षेत्र के नवीनतम ज्ञान से अवगत रहने के लिए पुनः शिक्षा प्राप्त करने के लिए लालयित रहते हैं।

3. जिन व्यक्तियो ने पूर्व में किन्ही कारणों से विद्यालय छोड़ दिया था और अब शिक्षा प्राप्त कर अपने भविष्य को उन्नत बनाना चाहते हैं या अपने व्यवसाय मे और प्रगति के लिये अच्छे अवसरो की प्राप्ति की खोज मे है।

4. विश्वविद्यालयी प्रवेश परीक्षा में असफल रहने के कारण उच्च शिक्षा से वंचित रह गये है परन्तु इस नवीन अवसर को प्राप्त कर उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं।

5. युवावस्था मे विवाह करने से उच्च शिक्षा से वंचित रही वे महिलाएँ जब अपनी प्रौढ़ता अथवा परिवर्तित आर्थिक स्थिति के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती हैं।

इस विश्वविद्यालय की प्रमुख एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि विद्यार्थी को प्रवेश से पूर्व कोई औपचारिक परीक्षा नही देनी पड़ती। प्रवेशार्थी से कुछ प्रश्न पूछे जाते है और उनके उत्तरो के आधार पर प्रवेश का निर्णय लिया जाता है।

खुले विश्वविद्यालय के प्रमुख उद्देश्य :

1 खुला विश्वविद्यालय पुरुष एवं महिलाओं, बालक एवं वृद्ध, गरीब एवं अमीर ग्रामीण तथा शहरी, सभ्य तथा पिछड़े, सहज पहुँच वाले स्थान तथा दुर्गम स्थानों के लिये, बेरोजगारी के शिकार तथा काम पर लगे हुए, विद्यालयों की शिक्षा अपूर्ण छोड़े हुए तथा ग्रहिणियों के लिए, पहाड़ों पर तथा समतल स्थानो पर रहने वाले व्यक्तियों के बहुत बड़े भाग के लिए शिक्षा की सुविधाएँ अल्प तथा लम्बी अवधि वाले सामान्य, अनवरत तथा विस्तार सेवा शिक्षा के पाठ्यक्रमों के माध्यम से उपलब्ध कराता है । खुले विश्वविद्यालय का मुख्य आग्रह यह है कि अध्यापक कार्य को कक्षा की चार दिवारी में कैद न करके जनसाधारण के हित में मुक्त किया जाए, बाहर लाया जाय।

2. उच्च शिक्षा उन सभी व्यक्तियों को सुलभ हो सके जो आर्थिक या अन्य कारणों से अपने अध्ययन को बिना पूरा किये मध्य में ही छोड़ने को विवश हुए हैं तथा यह प्रतिभावान् और मंद बुद्धि व्यक्तियों को उनकी इच्छानुसार शान्ति से पढ़ने का अवसर प्रदान करता है ।

3. प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से शिक्षित व्यक्तियों को उच्च शिक्षा की सुविधायें उपलब्ध कराना भी इस विश्वविद्यालय का प्रमुख उद्देश्य है।

4. तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की बाढ़ ने विश्वविद्यालय के क्षेत्र को संकुचित कर दिया है। प्रवेशार्थी अधिक हो गये हैं जिसमें विश्वविद्यालय में स्थान की कमी हो गई है। शिक्षा के ऐसे सभी इच्छुक विद्यार्थियों को शिक्षा देना इसका लक्ष्य है।

5. खेतों, कारखानों अथवा कार्यालयों में कार्यरत व्यक्तियों, विद्यालयों में कार्यरत पूर्व स्नातक स्तर के अध्यापकों, घर मे कार्यरत अथवा रोजगार प्राप्त महिलाओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्रदान करना है ।

6. उच्च शिक्षा को सार्वजनिक या लौकिक स्वरूप करते हुए भारतीय समाज के प्रजातान्त्रिक एवं समाजवादी ढांचे के अनुरूप लाना जिससे अज्ञानता रूपी अंधकार और अंधविश्वास समाप्त होकर व्यक्तियों का तर्कपूर्ण दृष्टिकोण विकसित हो और परोक्ष रूप से व्यक्तियों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास मे

सहायता मिल सके और प्रजातन्त्र सफल हो । महिला वर्ग में उच्च शिक्षा का लाभ, उनकी दशा में सुधार एवं परिलब्धियों की वृद्धि परिलक्षित हों।

आधुनिक शिक्षा कय काफी व्ययसाध्य है। प्रत्येक अभिभावक इतनी महंगी शिक्षा अपने बच्चों को नहीं दे पाता है और विपन्न-माता-पिता के कुछ बच्चे तो शिक्षा प्राप्त करने से ही वंचित रह जाते हैं। खुला विश्वविद्यालय उन सभी जिज्ञासुओं को शिक्षा सुलभ करा सकेगा। इस विद्यालय व्यवस्था का विकल्प अधिक सहज होना चाहिए जिससे सभी व्यक्ति उससे लाभान्वित हो सकें।

रीमर शायद ठीक ही कहता है कि "विद्यालय अर्थहीन हो गये हैं हमारी पारस्परिक विद्यालय पद्धति मर गई है और हमें शिक्षा के नवीन साधनों की खोज करनी है। खुले विश्वविद्यालय में स्वतन्त्र अध्यापन की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम और विद्यालय में बढ़ा कर अध्यापन का क्षेत्र सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बद्ध करना है।"

शिक्षा के इस परिवर्तित अर्थ तथा समाज की सामयिक आवश्यकता के अनुरूप बनाने के विचार से विद्यार्थियों के स्थान की व्यवस्था; समय के अनुरूप विभाग चक्र, अध्यापन योजना, साधनों के वितरण, सभी क्षेत्रों में गत्यात्मक तथा विद्यालयों के अधिक लचीलेपन की आवश्यकता है, जिससे वे नई सामाजिक आवश्यकताओं, प्राविधिक एवं तकनीकी विकास के अनुरूप बनाये जा सकें।

ऐतिहासिक विकास :

सर्वप्रथम 1970 में जर्मनी में खुला विश्वविद्यालय खोला गया, जहां चार स्तर के पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं–आधारभूत (BASIC), (मुख्य) (MAIN), (अनवरत) (CONTINUAL) और अनुबन्धित (CONT-(RACT)। इनमें से अनवरत तथा अनुबन्धित शोध कार्य तथा व्यावसायिक दक्षता के लिए चलाये जाते हैं।

ब्रिटेन में एक जनवरी, 1971 से दूरस्थ शिक्षा के लिए खुला विश्वविद्यालय वाल्टन हाल, मिल्टन क्वीन्स में आरम्भ किया गया था। इसके विभिन्न प्रकार के नाम सुझाये गये, यथा—हवा में विश्व-विद्यालय, दीवारहीन विश्वविद्यालय, दूरदर्शन विश्व-विद्यालय, आदि-आदि अन्त में खुला विश्वविद्यालय

(OPEN UNIVERSITY) नाम स्वीकार कर लिया गया है। इसमें प्रवेश के लिए आयु एवं योग्यता सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। प्रारम्भ में इस विश्व-विद्यालय में 25 हज़ार शिक्षार्थी थे। इस विश्व-विद्यालय में प्रति छात्र व्यय सामान्य शिक्षा संस्थानों से कम जानकर बी. बी. सी. ने भी मिल्टन क्वीन्स के खुले विश्वविद्यालय को 30 घंटे प्रति सप्ताह रेडियो पर कार्यक्रम देकर अपना सहयोग दिया।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क तथा न्यूयार्क स्टेट एजूकेशन डिपार्टमेन्ट, बोर्ड फाउण्डेशन के आर्थिक सहयोग से खुले विश्व-विद्यालय के आधार पर स्नातक कार्यक्रम आरम्भ कर दो वर्ष पश्चात एसोसिसयेट्स इन आर्ट्स (ए. ए.) की उपाधि प्रदान करने लगे। इसमे छात्र हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर विश्व-विद्यालय में केवल निर्देशन तथा परामर्श के लिए ही जाता है। इसमें सामान्य शिक्षा रेडियो, टेपरिकार्ड, कैसेट, पत्राचार, दूरदर्शन के माध्यम और यदि आवश्यकता हुई तो ट्यूटोरियल कक्षाओं की व्यवस्था द्वारा दिया जाता है।

एशिया में जापान ने यूनिवर्सिटी ऑफ दि एयर नाम के खुले विश्व-विद्यालय का प्रयोग किया। यहां रेडियो व 1973 से दूरदर्शन के माध्यम से सप्ताह में चार दिन शिक्षण पाठों का प्रसारण किया जाता है। पत्राचार पाठ्यक्रम खुले विश्व-विद्यालय का एक अंग है।

भारत में सर्वप्रथम दिल्ली विश्व-विद्यालय के पत्राचार निदेशालय ने 1962 में स्नातक उपाधि हेतु पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये। इसी दशक में 1968 में पंजाब तथा राजस्थान और 1969 में मेरठ तथा मैसूर विश्वविद्यालय में पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुए। इन विश्व-विद्यालयों के अनुवादों से लाभ उठाकर अगले दशक में 17 विश्व-विद्यालयों में और पत्राचार पाठ्यक्रम आरम्भ किये गये हैं। मदुराई कामराज, पंजाब, हिमालय प्रदेश एवं बम्बई विश्व-विद्यालयों में 1971 में श्री वेंकटेश्वर आंध्र प्रदेश विश्व-विद्यालय वाल्टेयर ने 1972 में, अंग्रेजी तथा विदेशी भाषा संस्थान (डीम्ड यूनिवर्सिटी) हैदराबाद ने 1973 में, पटना विश्व-विद्यालय ने 1974 में, भोपाल तथा उत्कल विश्व-विद्यालयो ने 1975 में, केरल, कश्मीर तथा जम्मू विश्व-विद्यालय ने 1976 में, केरल, उस्मानियां विश्व-विद्यालय ने 1974 में एस. एन. डी. टी. विश्व-विद्यालय ने 1978 मे, उदयपुर,

अन्नामलाई तथा गुजरात विश्व-विद्यालयों ने 1979 में पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये गये। भोपाल, अजमेर, मैसूर तथा भुवनेश्वर में स्थित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों तथा कुछ माध्यमिक शिक्षा मण्डलों ने भी पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये। इन पत्राचार पाठ्यक्रमों में शिक्षार्थियों की संख्या दिन प्रतिदिन वृद्धि पर है। इतना ही नहीं, वाल्टेयर तथा मैसूर विश्व-विद्यालयों ने और भी साहसपूर्ण कदम उठाये हैं। उदाहरणार्थ-बिना किसी प्रकार की पूर्व योग्यता के स्नातक या स्नातकोत्तर में प्रवेश देना पर आयु की शर्त उन्होंने भी रखी है। बी. ए तथा एम ए. पाठ्यक्रमों में क्रमशः 25 तथा 35 वर्ष की आयु प्राप्त कोई भी शिक्षार्थी प्रवेश पा सकता है। आकाशवाणी के दिल्ली, मद्रास तथा जालन्धर केन्द्रों ने रेडियो से पाठों के प्रसारण का आयोजन किया। युववाणी के अन्तर्गत टेप किये गये भाषणों के प्रसारण का आयोजन किया जाता है। आई. आई. टी. ने दूरदर्शन प्रसारण प्रारम्भ किया। ये दूरदर्शन प्रसारण पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुए। पश्चिमी बंगाल में यह सुविधा 20 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों के लिए ही है। जिनका पुनः प्रवेश भी सम्भव है। प्रत्येक जिले में पांच सौ छात्रों की संख्या में कम से कम 50 महिलाओं का होना आवश्यक है। विश्व-विद्यालय किसी भी पाठ्यक्रम के लिए न्यूनतम अर्हता स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण होना है।

भारतवर्ष के सन्दर्भ में खुला विश्वविद्यालय :-भारत में विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए अब तक चयन का तरीका वास्तव में चयन का तरीका न होकर अस्वीकृति का तरीका रहा है। कुछ व्यक्ति जिनकी उपलब्धि वास्तव में उच्च स्तरीय है, कभी-कभी वे भी प्रवेश नहीं पा सकते। डॉ. गुरंग के शब्दों में—केवल उन व्यक्तियों के लिए खुला विश्व-विद्यालय खोलना जो नियमित, आवासीय तथा औपचारिक शिक्षण वाले विश्व-विद्यालयों में प्रवेश नहीं पा सके हैं, इन विश्व-विद्यालयों के स्तर को गिराना है, अतः इसमें भी भिन्न कारणों पर विचार कर, आधार तैयार कर खुले विश्व-विद्यालय की स्थापना करनी चाहिए। आप आगे कहते हैं कि भारत में यदि विश्व-विद्यालय को सफलता प्राप्त करनी है तो केवल केन्द्रीय संस्थान द्वारा ही उसका संचालन उपयुक्त है।

इंग्लैण्ड के समान पांच प्रकार के विद्यार्थियों के सिवाय भारत में एक अन्य छठे प्रकार के वे विद्यार्थी भी हैं जिन्होंने पहले उच्च शिक्षा प्राप्त

की है परन्तु अब वे उस शिक्षा को आवश्यक और अनुपयोगी पाते हैं। हमारे देश में जो मानविकी क्षेत्र के स्नातक परीक्षा पास करते हैं वे अपनी इच्छा और आवश्यकता के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं करते बल्कि वे अपनी आर्थिक स्थिति, प्रवेश की कठिनाई, परिवार की विवशतायें अथवा भौगोलिक सुविधाओं/असुविधाओं के कारण ऐसा करते हैं। अतः भारत में इस बात की आवश्यकता है कि इस कमी को दूर कर विद्यार्थियों को अपनी सम्प्राप्ति में सुधार का अवसर प्रदान किया जाय। खुले विश्व-विद्यालय का कर्तव्य होगा कि ऐसे छात्रों की कठिनाइयों को दूर करें और उन्हें व्यवसायोन्मुखी शिक्षा प्रदान करें, अतः उच्च शिक्षा को सारपूर्ण एवं सार्थक बनाने के लिए प्रवेश परीक्षा आवश्यक है जिसमें अभिव्यक्ति की क्षमता और अंकगणितीय ज्ञान की परीक्षा ली जा सके। यह कार्य खुले विश्व-विद्यालय को करना चाहिए।

दिन प्रतिदिन भारत सहित विश्व के कई देशों में दूरस्थ शिक्षा के विचार में महत्व प्राप्त किया है। खुले विश्व-विद्यालय या दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था पारस्परिक विश्व-विद्यालय शिक्षा व्यवस्था के विकल्प के रूप में प्रस्तुत हुई है। आज स्थिति यह है कि भारत में शिक्षा को जीवन के लिए अधिक सारपूर्ण बनाने के लिए दोनों व्यवस्थायें काम कर रही हैं।

दिल्ली में पिछले दिनों स्थापित नवीन इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय खुले विश्व-विद्यालय में उन सबको प्रवेश दिया जायेगा जो पात्रता धारण करते हैं। इस वाक्य से ऐसा लगता है कि यह पाबन्दी या प्रतिबन्ध तो अन्य सभी औपचारिक शिक्षा देने वाले विश्व-विद्यालयों में भी रहती है, पर दिल्ली में स्थापित खुले विश्व-विद्यालय को इस शर्त का अपवाद ही कहा जाना चाहिए। इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय खुला विश्व-विद्यालय अन्य विश्व-विद्यालयों के समान प्रवेश की पात्रता पर किसी प्रकार की शर्त पर आग्रह नहीं करता है।

भारतीय संदर्भ में खुले विश्व-विद्यालय का विचारों की दृष्टि से खुलापन :—शिक्षा की मुक्तता का खुलापन या शिक्षा तक सब की पहुँच को भारतीय सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए, इस दृष्टि से भारत में खुले विश्व-विद्यालय की आर्थिक विकास तथा नियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रथम स्थान पर सर्वाधिक आवश्यकता है शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्ति सभी आयोगों ने विश्वविद्यालय शिक्षा में सुधार तथा विश्व-विद्यालय का अपने राष्ट्रीय एवं सामाजिक दायित्वों को पूर्ण करने के सम्बन्ध में सुझाव

दिये हैं, पर आज भी हमारे विश्व-विद्यालय पूर्व की मान्यताओं के अनुरूप ही कार्य करते जा रहे हैं। बदली हुई स्थितियों में, कार्यों, दायित्वों, तथा कार्य प्रणालियों में परिवर्तन किये जाने की नितान्त आवश्यकता है।

खुले विश्व-विद्यालय इंग्लैण्ड में सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं, क्योंकि वहाँ साक्षरता का प्रतिशत बहुत अधिक है इसके दूसरी ओर भारत में साक्षरता की दर बहुत कम है। इसलिए भारत मे शिक्षा सुलभ कराना ही नही प्रवेश जुटाना भी खुले विश्व विद्यालय का उद्देश्य है। इस स्थिति में भारत में खुलेपन के अर्थ को सारपूर्ण बनाने के लिए यहा की परिस्थितियों पर भी ध्यान देना होगा। इस प्रकार की शर्तों में एक तो यही हो सकती है कि प्रवेश चाहने वाले विद्यार्थी दक्ष, सक्षम तथा परिपक्व हो। खुले विश्व-विद्यालय से शिक्षा पाने के लिए इस प्रकार की पूर्व शर्त पाश्चात्य देशों में नही पाई जाती है। पर इससे आश्चर्य नही होना चाहिए क्योंकि वहां विद्यालयी शिक्षा सार्वजनीन है, लौकिक है, सभी के लिए अनिवार्य है।

दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था औपचारिक हो, दृढ़तापूर्वक नियमों से संचालित हो या मुक्त, शिक्षार्थियों के प्रवेश कुछ शर्तों के अधीन ही संचालित होंगे तथा यह भी स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि उन नियमों या शर्तों का पालन करना खुलेपन का विरोध या मनाही नही है। पारम्परिक विश्व-विद्यालय तथा खुले विश्व-विद्यालय की शिक्षा व्यवस्था में मुख्यतः प्रवेश के सम्बन्ध मे एक मौलिक अन्तर यह है कि-पारम्परिक विश्व-विद्यालय के समान खुले विश्व विद्यालय में प्रवेश के लिये पूर्व योग्यता की कोई शर्त नही होती है। इसका अर्थ यह कि खुले विश्व-विद्यालय में प्रवेश लेने के पूर्व शिक्षार्थी को विद्यालय या महाविद्यालय या विश्व-विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए समय नही बिताना पड़ता। इसके पीछे तर्क यह है कि खुले विश्व-विद्यालय में शिक्षा के लिए प्रवेश के लिए कोई बन्धन न हो, इसलिए सही शिक्षा के औचित्य पर आग्रह तो है पर नरमी बरती गई है।

खुलेपन की दूसरी मुख्य विशेषता अधिगम की विधियों की स्वतन्त्रता है। पारम्परिक विश्व-विद्यालय में शिक्षण प्रायः कक्षाओं में व्याख्यान के माध्यम से कराया जाता है जिसमे प्रवेश पा सकने वाले कुछ सीमित विद्यार्थी ही लाभ उठाते हैं जबकि खुले विश्व-विद्यालय मे शिक्षण ऐसा नही है खुले विश्व-विद्यालय मे अध्यापन के लिए विभिन्न माध्यमो का उपयोग किया जाता है जैसे मुद्रित सामग्री डाक द्वारा भिजवाना, रेडियो,

दूरदर्शन, टेपरिकार्ड, केसेट अन्य दृश्य सामग्री आदि। ये साधन सभी शिक्षार्थियों के लिए खुले हुए हैं तथा रुचि सम्पन्न कोई भी शिक्षार्थी इनसे अपने फुर्सत के समय में उपयोग कर लाभ उठा सकता है।

इन खुले विश्व-विद्यालयों में प्रमाण पत्र, डिप्लोमा, उपाधि, स्नातकोत्तर उपाधि. शोध कार्य आदि सभी पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न विषयों तथा संकायों में उपलब्ध होंगे। पाठ्यक्रमों का संयोजन इस प्रकार होगा कि अन्तर्विषयों या बहुविषयी अध्ययनों पर बल दिया जाय। परीक्षा प्रणाली, रेडियो, दूरदर्शन के प्रयोगों पर सभी सोच विचार कर सुधार लाये जाने की सम्भावना है।

उच्च शिक्षा की सीमायें समाप्त करने तथा शिक्षा के आयामों का विस्तार करने के लिये आधुनिक संचार साधनों एवं तकनीकों का उपयोग किया जाना चाहिए। इन विश्व-विद्यालयों द्वारा अपने विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिये भिन्न-भिन्न साधनों का उपयोग किया जायेगा। अध्यापन के तरीकों के अन्तर्गत विशेषज्ञों द्वारा लिखाये गये पाठ विद्यार्थियों को भिजवाये जायेंगे, रेडियो तथा दूरदर्शन पर उनके लाभार्थ पाठ्य सामग्री का प्रसारण होगा। विश्व-विद्यालय से विद्यार्थियों का निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने के लिये भिन्न-भिन्न साधनों पर अध्ययन केन्द्र स्थापित किये जायेंगे तथा इन केन्द्रों पर उनके लाभार्थ प्रयोगशाला, पुस्तकालय, रेडियो, दूरदर्शन, केसेट तथा अन्य दृश्य सामग्री उपलब्ध रहेगी। यदि आवश्यकता हुई तो अध्ययन केन्द्र की ही भांति क्षेत्रीय केन्द्र भी स्थापित किये जा सकेंगे, कार्यक्रम के अनुभवों से ही सीखा जाता है। ज्यों-ज्यों कठिनाइयां आयेंगी, त्यों-त्यों उपचार ढूंढे जायेंगे एव सुधार स्थान लेते जायेंगे।

आर्थिक दृष्टि से खुले विश्व-विद्यालय का महत्व

भारतवर्ष में खुले विश्व-विद्यालय से सी. वी. पद्मनाभन ने निम्नांकित लाभों की ओर संकेत किया है—

1. खुले विश्व-विद्यालय की स्थापना से पारम्परिक विश्व-विद्यालयों में विद्यार्थियों के प्रवेश की संख्या कम हो जायेगी। उच्च शिक्षा के लिए समय-समय पर चुनित व्यक्तियों के प्रवेश के लिए अनुशंसा की जाती है उसकी पूर्ति हो सकेगी। इससे विश्व-विद्यालयी शिक्षा के स्तर में सुधार होने की भी सम्भावना है।

2. इसके माध्यम से देश के सामाजिक, आर्थिक सुधारों का नियोजन भली भांति सम्भव है।

3. इसके माध्यम से कृषकों व अन्य श्रमिकों के शैक्षणिक कार्यक्रमों का इस प्रकार समायोजन हो सकेगा कि उनकी शिक्षा जीवनोपयोगी बन सकें और आर्थिक उन्नति में सहायक हो सकें।

4. खुले विश्वविद्यालय द्वारा दी जाने वाली शिक्षा तुलनात्मक रूप से कम खर्चीली होने से जनसाधारण की पहुँच में रहेगी। खुला विश्वविद्यालय कितना सस्ता है, यह जानने के लिये नीचे की तालिका में तुलनात्मक आंकड़े प्रस्तुत हैं—

प्रतिछात्र तुलनात्मक लागत (स्टलिंग में)

मद	खुला विश्वविद्यालय	पारम्परिक व्यवस्था
1. आवृत्ति लागत	250	940
2. पूँजी लागत	165	3000
3. साधन लागत	268	1600

ऊपर के आंकड़ों से स्पष्ट है कि खुले विश्वविद्यालय की शिक्षा की लागत कई गुनी कम है। इसीलिये खुले विश्वविद्यालय की व्यवस्था साधन-हीन भारत के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है। इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि खुले विश्वविद्यालय के माध्यम से दूरस्थ शिक्षा न केवल सस्ती है बल्कि राष्ट्र के कोने-कोने में पहुंच सकती है। मुख्यतः यह पत्राचार पाठ्यक्रम ही है तथा आधुनिक प्रचार साधनों- रेडियो, दूरदर्शन आदि का भी पूरा-पूरा उपयोग करती है।

खुले विश्वविद्याल के विभिन्न चरण

खुले विश्वविद्यालय में सामान्य स्नातक उत्तीर्ण तथा स्नातक आनर्स की उपाधियाँ प्रदान की जायेंगी जिनकी अवधि क्रमशः 5 और 6 वर्ष होगी। अध्ययन कार्यक्रम के 4 खण्ड होंगे। प्रथम खण्ड द्वितीय खण्ड (चरण) तृतीय व चतुर्थ खण्ड। आरम्भ में मानविकी तथा वाणिज्य प्रारम्भ किया जायेगा। इनके विषय वर्तमान विश्वविद्यालयों में रहे विषयों के अनुरूप निश्चित किये जायेंगे।

शिक्षण प्रणाली

विद्यार्थियों को सीखने-सिखाने के अधिकाधिक अवसर प्रदान करने के लिए अध्यापन के सभी साधनों का यहाँ प्रयोग किया जायेगा, जिसे चार खण्डों में विभाजित किये जाने का प्रावधान है—

1. मुद्रित विषय वस्तु :—पत्राचार से कुछ मुद्रित पाठक विद्यार्थियों को भेजे जाते हैं। इन पाठों को विद्यार्थियों द्वारा पढ़कर दिये गये कार्य (Assignment) को करके वापिस लौटाने की व्यवस्था है।

2. टेलिविजन तथा रेडियो :—अनेक पाठ रेडियो तथा दूरदर्शन पर प्रसारित व प्रदर्शित किये जाते हैं।

3. अध्ययन केन्द्रों में अध्यापकों से सम्पर्क :—प्रादेशिक स्तर पर आयोजनीय ट्यूटोरियल अथवा मार्गदर्शन कार्यक्रम होते है जिनके शिक्षार्थी लाभान्वित होते हैं। विद्यार्थियों के लाभार्थ इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे ग्रीष्म कालीन शिविर तथा/अथवा सप्ताहान्त कार्यक्रम भी आयोजित होते हैं ।

4. मूल्यांकन :—विद्यार्थियों को अपने परिणाम निकालने के लिए अनेक प्रश्न दिये जाते हैं। उनके स्वमूल्यांकन के लिए प्रश्न पत्र बनाये जाते हैं। कम्प्यूटर अथवा पत्राचार ट्यूटर द्वारा देखे जाने के लिये भी प्रश्न पत्र बनाये जाते हैं।

इस प्रकार कार्यक्रम में पढ़ना, सुनना, संगति तथा घर पर प्रयोगात्मक कार्य और परीक्षण का समावेश होता है।

परीक्षा प्रणाली :—आधार पाठ्यक्रम पर आधारित 6 माह के उपरान्त होने वाली परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को शेष पाठ्यक्रम को पढ़ते रहने की अनुमति प्रदान की जायेगी। इसके पश्चात प्रत्येक स्तर पर साख पद्धति (Credit) के आधार पर श्रेय निर्धारण होगा।

खुले विश्वविद्यालय का स्वरूप :—1. इस विश्वविद्यालय में उच्चतम पद पर निम्नांकित अधिकारी होंगे—

1. कुलपति 2. दो उपकुलपति । इनमें से एक उपकुलपति अध्ययन अध्यापन कार्यक्रम की व्यवस्था के साथ समायोजन का कार्यभार सम्भालेंगे व दूसरे उपकुलपति वित्त तथा प्रशासन विभाग को देखेंगे।

(3) प्रत्येक जिले मे एक मण्डलीय केन्द्र रहेगा और उसके अन्तर्गत कुछ अध्ययन केन्द्र रहेंगे। प्रत्येक मण्डलीय केन्द्र का मुख्य अधिकारी मण्डलीय समायोजक होगा।

(4) उपकुलपति अध्ययन–अध्यापन एवं समायोजन की सहायता के लिए 6 निदेशक रहेंगे जो क्रमशः भाषायें, सामाजिक विज्ञान, वाणिज्य, प्राकृतिक विज्ञान जीवन (Life sciences) तथा परीक्षा से सम्बन्धित होंगे। ये निदेशक शिक्षा क्षेत्र के ख्याति प्राप्त व्यक्ति होंगे और उनका पद संकाय डीन (Dean of Faculties) के स्तर का होगा।

(5) निदेशकों की सहायतार्थ प्रत्येक विषय में बोर्ड ऑफ स्टडीज का निर्माण होगा। प्रत्येक संकाय में पूर्णकालिक व अंशकालिक विशेषज्ञ रहेंगे जो सम्बन्धित विषयों में आवश्यक सुझाव देंगे। इस बोर्ड द्वारा पढ़ाई का कार्यक्रम, पाठ्यक्रम आदि तैयार किये जायेंगे। इसके साथ ही पाठों का निर्माण सहायक सामग्री का निर्णय पाठ लेखकों के दल की मदद से प्रस्तुत किया जायेगा। साथ ही पाठ्य पुस्तकें और सन्दर्भ पुस्तकें निर्धारित की जायेंगी और प्रश्न बैंक विद्यालयों की सहायतार्थ उपलब्ध कराये जायेंगे।

6. अध्ययन का कार्यक्रम अधोलिखित प्रकार से चलेगा—

(1) डाक द्वारा :—पत्राचार के पाठ डाक से विद्यार्थियों को भेजे जायेंगे और उन पाठों से सम्बन्धित प्रश्न होंगे। जिनके उत्तर विद्यार्थियों द्वारा लौटाये जाते हैं जिनका मूल्यांकन पत्राचार ट्यूटर व कम्प्यूटर द्वारा कराया जाता है।

(2) रेडियो, दूरदर्शन, कैसेट्स के माध्यम से तैयार पाठ :—रेडियो, दूरदर्शन आदि के माध्यम से पाठ प्रसारित किये जाते हैं। बीच-बीच में लिखित कार्य के सुधार कार्यक्रम भी प्रसारित किये जाते हैं। पाठों के कैसेट्स को विद्यार्थी बार-बार सुनकर भी ज्ञानार्जन करते हैं।

(3) अंशकालिक अध्यापन :—अध्यापन केन्द्रों से मण्डलीय समायोजक के निर्देशन में अल्पकालिक अध्यापकों द्वारा छात्रों की कठिनाइयों का निवारण होता है। यह शिक्षण कार्य रविवार, अवकाश दिवस ग्रीष्मकालिन शिविर में होता है।

(4) विद्यार्थियों को प्रत्येक मण्डलीय केन्द्र पर पाठ्य सामग्री विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त की जायेगी और उनका लिखित कार्य सम्बन्धित

अध्यापक, परीक्षकों द्वारा निरीक्षित किया जायेगा । मण्डलीय केन्द्र प्रगति आलेख रखेंगे और अपनी आख्या विश्वविद्यालय को प्रेषित करेंगे ।

(5) प्रादेशिक स्तर पर ट्यूटर के बिना ट्यूटोरियल कक्षाएँ लगाई जाती हैं जहाँ छात्र एक दूसरे के अनुभव के आधार पर विचार-विमर्श कर ज्ञानार्जन करते हैं ।

(6) शैक्षणिक उपकुलपति मण्डलीय समायोजकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क रखेगा और अध्यापन कार्य की प्रगति को दृष्टिगत रखते हुए अध्यापन सामग्री में आवश्यक संशोधन करेगा ।

(7) विश्वविद्यालय में स्वयं को पंजीकृत कराने वाले छात्र अपने निवास के आधार पर सम्बन्धित मण्डलीय केन्द्र से अपना नाम सम्बद्ध करायेंगे ।

(8) प्रत्येक छात्र की प्रगति का मूल्यांकन उसके कार्य एवं मण्डलीय केन्द्रों की आख्याओं को ध्यान में रखते हुए परीक्षा के आधार पर होगा । इसके पश्चात उपाधि प्रदान की जायेगी ।

(9) प्रत्येक विषय में निदेशकों के अतिरिक्त दो पूर्णकालिक अध्यापक नियुक्त किये जायेंगे जो प्रोफेसर अथवा रीडर के पद के समतुल्य होंगे और पाठ्यपुस्तकों एवं सन्दर्भ पुस्तकों के निर्धारण तथा प्रश्न पत्र या/और बैंक तैयार करने के लिये उत्तरदायी होंगे । परीक्षा, प्रश्न पत्रों की तैयारी और लिखित कार्य के सुधार में भी आवश्यक सहायता करेंगे ।

(10) उपकुलपति अध्यापन एवं समायोजन विषय निदेशक और पूर्णकालिक अध्यापकों को सम्मिलित करके विश्व-विद्यालय का शैक्षणिक मण्डल निर्मित होगा । इसके विभिन्न उत्तरदायित्वों में से एक परीक्षाफल प्रकाशित करना भी होगा ।

(11) उपकुलपति वित्त एवं प्रशासन, सामान्य प्रशासन और आय व्यय के रख रखाव एवं वित्त सम्बन्धी समस्याओं के प्रति उत्तरदायी होंगे ।

(12) विश्व-विद्यालय कार्यालय को अग्रलिखित विभागों में विभक्त किया जायेगा :—

विभाग प्रथम :—यह सम्बन्धित विषय निदेशकों से सम्बन्ध रखेगा ।

विभाग द्वितीय :—इसका कार्य पंजीकरण, शिक्षण सामग्री का प्रेषण, परीक्षा तथा परीक्षाफल का प्रकाशन रहेगा ।

विभाग तृतीय :—इसका कार्य मण्डलीय केन्द्रों का समायोजन ।

विभाग चतुर्थ :—अर्थ सम्बन्धी, आय व व्यय इसका कार्य होगा ।

विभाग पंचम :—मुद्रणालय, सम्बन्धित प्रपत्रों, पाठकों एवं शिक्षण सामग्री तथा प्रश्न पत्रों के अथवा अन्य मुद्रण कार्य के प्रति उत्तरदायी होंगे ।

विभाग षष्टम :—विश्व-विद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय की व्यवस्था एवं सामान्य प्रशासन का भार इस विभाग पर होगा ।

टिप्पणी :—उपर्युक्त सभी विभाग एक ही स्थान पर रहेंगे ।

वित्त :—वित्तीय दायित्व राज्य सरकार तथा विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग वहन करेगा । विद्यार्थियों से शिक्षण शुल्क लिया जायेगा । खुले विश्व-विद्यालय में परीक्षा भवन अथवा शिक्षण कक्ष पर कोई व्यय नहीं किया जायेगा । परन्तु अधिकारी वर्ग तथा अंशकालिक अध्यापकों के वेतन का भुगतान देय होगा, साथ ही मुद्रण सामग्री एवं दूरदर्शन, रेडियो आदि पर विज्ञापन व्यय वहनीय होगा ।

खुले विश्व-विद्यालय की सीमायें एवं उनका उपचार

खुले विश्व-विद्यालय मे दूरस्थ शिक्षा के साधनों—रेडियो, दूरदर्शन कैसेट से, पत्राचार पर विचार करते समय इस विधि के दोषों, कमियों तथा सीमाओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए :—

1. इससे विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के बीच अन्त.क्रिया व्यापार सम्भव नहीं होगा, बालक तथा अध्यापक आमने-सामने नहीं होंगे । शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व की रचना मे शिक्षक का जो योगदान होता है, वह न हो पायेगा । क्योंकि विद्यार्थी केवल पुस्तकें ही नहीं सीखता, वह अपने अध्यापक के आचरण, व्यवहार, सिद्धान्त तथा जीवन दर्शन से भी सीखता है । इन विद्यार्थियों का अधिगम अपूर्ण एवं अनुपयुक्त भी रह सकता है ।

दूरस्थ शिक्षा की योजनाधिकारियों को इस दिशा में सोच-विचार कर हल निकालना चाहिए ।

2. कुछ विद्वान शंका प्रकट करते हैं कि जब भारत में पत्राचार पाठ्यक्रमों का इतना अधिक विकास हो रहा है, तब खुले विश्व-विद्यालय की आवश्यकता ही क्या है ? खुले विश्व-विद्यालय के समर्थकों का तर्क है कि खुले विश्व-विद्यालयों में बहुमाध्यम विचारधारा पर बल है, जबकि पत्राचार पाठ्यक्रम में छपी हुई सामग्री और श्रव्य-दृश्य साधनों जैसे विभिन्न माध्यमों में विशाल अन्तर है । अतः यदि सभी व्यक्तियों को अपनी आवश्यकतानुसार शिक्षा देना चाहते हैं तो इसका एक मात्र उपाय खुला विश्व-विद्यालय ही है ।

3. खुले विश्व-विद्यालय द्वारा चलाई जाने वाली स्नातक व स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम प्रणाली के सम्बन्ध में सबसे बड़ी शंका यह प्रस्तुत की जाती है कि इस विश्व-विद्यालय के द्वारा शिक्षा का स्तर भी गिरेगा । इस सम्बन्ध मे इंग्लैण्ड के शिक्षा एवं विज्ञान विभाग द्वारा जून, 1969 में प्रकाशित शोध प्रतिवेदन मे कहा गया है कि इस प्रकार स्नातक स्तर की उपाधि जो कि पारम्परिक विश्व-विद्यालयों द्वारा दी जाती है, इस विश्व-विद्यालय द्वारा दिया जाना एक नया और महत्वाकांक्षी प्रयोग है । इसकी सफलता के लिये आवश्यक है कि इसका पाठ्यक्रम भी उतना स्तरीय एवं क्लिष्ट होना चाहिए जितना कि देश के अन्य विश्व-विद्यालयों का है ।

4. विद्यार्थियों की काठिन्य निवारण की स्थितियां भी नहीं बन पायेंगी । इसके लिये किसी वैकल्पिक व्यवस्था पर विचार करना होगा । इस व्यवस्था के नियोजकों का कहना है कि विद्यार्थियों की कठिनाइयों को हल करने के लिये अल्पकालिक सम्पर्क शिविर आयोजित किये जायेंगे तथा सन्ध्या में, यदि सम्भव हुआ तो कुछ समय के लिए कक्षाओं की भी अध्ययन केन्द्रों पर व्यवस्था की जा सकेगी । अध्ययन केन्द्रों पर छात्रों के लाभार्थ प्रयोगशाला, पुस्तकालय, रेडियो, दूरदर्शन, केसेट एवं अन्य दृश्य सामग्री भी उपलब्ध रहेगी ।

विज्ञान की शिक्षा प्रयोगों के बिना अधूरी रहती है । इस कमी को कैसे पूरा किया जायेगा ? इस पर भी पूर्व में ही सोच-विचार कर लिया जाना चाहिए । कारण कि आज कल तो प्राथमिक स्तर पर ही विज्ञान का

पाठ्यक्रम भारी भरकम होने लगा है। ऐसी स्थिति में स्नातक तथा स्नातकोतर स्तर के पाठ्यक्रम का तो कहना ही क्या ? पाश्चात्य देशों में तो विज्ञान विषयों में प्रयोगों के लिये कीट्स के रूप में सामग्री विद्यार्थियों को ही दे दी जाती है जिससे वे अपने फुर्सत के समय में प्रयोग कर सकें। सम्पर्क शिविरों में अध्ययन केन्द्रों पर भी प्रयोगों की व्यवस्था की जा सकेगी, ऐसी अपेक्षा की जानी चाहिए।

5. उच्चस्तर की पाठ्य सामग्री तैयार करना कठिन होगा, क्योंकि सम्भव है, कई विषयों के निष्णात अध्यापक न मिल पायें और यदि मिल जायें तो पाठ लिखने का कार्य स्वीकार न करें। इसका आधार यह है कि आज भी जहां-जहां पत्राचार पाठ्यक्रम चल रहे हैं, वहां की पत्राचार पाठ्य सामग्री गुणात्मकता की दृष्टि से असन्तोषजनक है, निम्न स्तरीय है। यह एक महत्वपूर्ण आलोचना या दोष है जिसका उपचार किया ही जाना चाहिए। हर स्थिति में सुधार की सम्भावना रहती है। इस दृष्टि से अच्छी एवं स्तरीय पाठ्यसामग्री की रचना के लिए समय-समय पर पाठकों का संशोधन होता रहना चाहिए। पाठों की गुणवतात्मकता बनाये रखने के लिये उन्हें सुयोग्य अध्यापकों से ही लिखवाया जाना चाहिए।

उपसंहार :—

खुले विश्व-विद्यालय द्वारा अन्य विश्व-विद्यालयों की तरह ही उपाधियां प्रदान की जायेंगी व शोध कार्य की सुविधा प्रदान की जायेगी। इस प्रकार यह पारम्परिक विश्व-विद्यालय में प्रवेश न पाने वाले विद्यार्थियों और कार्य में संलग्न व्यक्तियों के लिए शिक्षा प्राप्त करने का दूसरा अवसर प्रदान करेगा। खुला विश्व-विद्यालय सभी प्रकार के व्यक्तियों, स्थानों, पद्धतियों और अन्ततः विचारों के लिये खुला रहेगा। इसके छात्र सम्पूर्ण देश में फैले होंगे और वे सभी उपलब्ध तकनीकी को चुनने में अत्यधिक उदारता बरतने के लिए स्वतन्त्र होंगे। यह विश्व-विद्यालय उपाधि प्रदान करने के साथ-साथ विद्यार्थियों को ज्ञान से सम्बन्ध करते हुए क्रियात्मक ज्ञान प्रदान करेगा और उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण तैयार करेगा।

खुला विश्व-विद्यालय देश की सामाजिक मांग है, बिना उसकी सहायता के उच्च शिक्षा की मांग पूरी नहीं की जा सकती। विश्व के सभी देशों में इसे स्वीकार किया गया है, इसे भारत में भी स्वीकार किया ही

जाना चाहिए। यदि इस विधि से शिक्षा का स्तर गिरता है तो स्तर बनाये रखने के लिए अन्य साधन तथा तरीके खोजे जाने चाहिए। यहाँ आलोचकों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि खुले विश्व-विद्यालय की आवश्यकता पाश्चात्य देशों में ज्ञान के विस्फोट, विकसित एवं परिशोधित तकनीक से अपने को परिचित रखने के लिये, बेहतर सुविधायें प्राप्त करने के लिये, समय की कमी, प्राप्त रोजगार में प्रोन्नति आदि के आधार पर जोर पकड़ रही है। न्यूनाधिक रूप से ये सभी स्थितियां भारत के लिये भी समान रूप से लागू हैं। न केवल इतना ही, भारत में तो साक्षरता के विकास के लिये भी इसका सहारा लिया जा रहा है। इस प्रकार मोटे रूप से खुले विश्व-विद्यालय से सही शिक्षा की व्यवस्था सम्पूर्ण भारत में समन्वय तथा राष्ट्रीय भावात्मक एकता की एक सफल साधन सिद्ध हो सकती है।

परीक्षा सुधार

पिछले दिनों एक समाचार पढ़ा था कि एक न्यायाधीश एल. एल. एम. की परीक्षा में नकल करते हुए पकड़े गये। क्या ठीक है तथा क्या गलत, इसका निर्णय न्यायाधीश करते हैं तथा वे ही, यदि नकल करते हुए पकड़े जाएँ तो जनसाधारण में उनकी छवि क्या रह जायेगी ?

एक अध्यापक भी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित परीक्षा मे नकल करते हुए पकड़ा गया। इस अध्यापक को अपने विश्वविद्यालय में आयोजित परीक्षाओं के समय अपने छात्रों को नकल न करने का उपदेश देना है। कल्पना कीजिये कि नकल करने वाले अध्यापक का अपने छात्रो पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या उसका उपदेश बच्चो को प्रभावित करेगा ? ऐसे उदाहरणों की संख्या कम ही है पर गुणवत्ता की दृष्टि से समस्या निश्चय ही गम्भीर है।

जनवरी, 9 की जनसता के अनुसार माध्यमिक शिक्षा परिषद उत्तर प्रदेश ने प्रदेश सरकार के सामने प्रस्ताव रखा है कि 'परीक्षाओं में नकल करने पर काबू पाने के लिए नकल करने अथवा नकल कराने वालों को दण्डनीय अपराधी घोषित किया जाय।' अन्य अपराधों की तरह नकल करने को भी अपराध मानकर अपराधी को गिरफ्तार किया जाय तथा फिर वही प्रक्रिया""""चालान"""""न्यायालय में सुनवाई"""- गवाह"""""बयानों पर जिरह या तर्क वितर्क तथा"""अपराध की गम्भीरता के अनुसार दण्ड"""""
इससे कई बातें स्पष्ट होती हैं कि परीक्षा में नकल रोकने के सांस्थानिक प्रयत्न असफल हो गये हैं तथा प्राचार्य या शैक्षिक पर्यवेक्षक इस बीमारी को नही रोक पा रहे हैं।

इससे कई बातें पैदा होती हैं। बच्चा जो नकल कर रहा है क्या उसे इस अपराध की गम्भीरता का ज्ञान है। बच्चा यदि अवयस्क या नाबालिग हुआ तो उसे सुधार गृह या रिफोर्मेटरी या डेस्टीट्यूट होम में रखा जायेगा- उसके केस की सुनवाई बाल न्यायालय में होगी। उसके साथ वयस्क अपराधी के समान तो व्यवहार नही किया जा सकेगा। क्या सामान्य अपराधी के सभी

कानून इस बाल अपराधी पर भी लागू होंगे ? क्या इन बाल अपराधियों के केस का बाल न्यायालयों में अम्बार नहीं लग जायेगा ? उनके केसों के निपटारे में अत्यधिक समय लगने से क्या उनके पढ़ने की उम्र नहीं निकल जायेगी ? क्या उनके विकसित होने की सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हो जायेंगी ? क्या बाल न्यायालय का खर्चा आसमान नहीं छूने लगेगा ?

एक तरफ बालक के विकास की सम्भावनायें समाप्त तथा दूसरी ओर सुधार गृहों तथा बाल न्यायालयों के रूप में खर्चों में वृद्धि। इससे जुड़ी और भी कई बातें हो सकती हैं, जैसे—बच्चा नकल को क्यों प्रेरित हुआ ? क्या शिक्षक ने उसे आवश्यकतानुसार पढ़ाया तथा उसका मार्गदर्शन किया ? यदि नहीं किया तो बालक का क्या दोष है ? उसे अच्छे अंकों के माध्यम से वांछित पाठ्यक्रम में प्रवेश या सुनहला भविष्य आकर्षित करता है । विषय को पढ़ाने के लिए दिये जाने वाले समय पर क्या कभी पढ़ाने वाले अध्यापकों की राय ली गई है ? यदि नहीं, तो फिर बालक को ही अपराधी क्यों माना जा रहा है ? क्या इन बातों पर माता-पिता या अभिभावकों की कभी राय जानने का प्रयत्न किया गया है ? यदि नहीं तो फिर केवल बालक को ही अपराधी माना जाना कहाँ तक न्यायसंगत है ?

जुलाई से मार्च तक मात्र 2 या 3 परीक्षाएँ ही आयोजित की जाती हैं —क्या इसमें अध्यापक के स्वार्थ की बात नहीं है ? अध्यापक का स्वार्थ यह कि वह केवल तीन बार ही प्रश्न पत्र बनाता है तथा तीन बार ही उत्तर पत्र जाँचता है। इसमें विद्यार्थियों का सुविधा का कहाँ ध्यान रखा जाता है ? क्यों नहीं प्रति सप्ताह परीक्षा ली जाती ? इससे विद्यार्थी को परीक्षा रूपी कृत्रिम भूत से छुटकारा नहीं मिलता क्या ? सहज वातावरण में परीक्षा ली जाय। मूल्यांकन के दर्शन के अनुसार अच्छी परीक्षा ही वह है जिसमें पढ़ाने वाला स्वयं ही परीक्षा ले। दूर-दूर विद्यार्थियों के बैठने की व्यवस्था-वीक्षक का निरन्तर इधर उधर घूमना, सम्भव है, वीक्षक अपरिचित भी हो तो यह सब विद्यार्थी के लिए भयावह स्वरूप होता है।

परीक्षा के कई कार्यों में से एक कार्य विद्यार्थी की सम्प्राप्ति जांचना या पास फैल करना भी हो सकता है पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य एक और हो सकता है और वह यह कि परीक्षा से विद्यार्थियों के भावी विकास की राह निश्चित करना तथा तदनुकूल विद्यार्थियों को निर्देशन देना पर सम्भवतः इस कार्य पर बहुत कम ध्यान दिया गया है । मूल बात यह है

कि मूल्यांकन या परीक्षा फलों का उपयोग प्रभावी एवं सार्थक प्रयत्न कर उसे सुधार की दिशा में अधिगम अग्रसर करना है । इस प्रकार परीक्षा का कार्य बालक के अधिकतम विकास में उसकी सहायता करना भी है ।

कई विद्यार्थियों की लिखित अभिव्यक्ति निम्न स्तर की होती है, क्या कभी ऐसे विद्यार्थियों के लिए मौखिक परीक्षा के रूप में विचार किया गया है ? प्रश्न उठता है कि परीक्षा का अभिलेख कैसे रहेगा ? परीक्षा के अभिलेख के नाम पर क्या विद्यार्थियों के मौलिक विकास पर बंधन नहीं लगाया जा रहा है ? बालक द्वारा तैयार की गई सामग्री या निष्पादित कार्य से उसका स्तर निश्चित किया जा सकता है । प्रकृतिदत्त सीमा तक विकास का बालक को बुनियादी अधिकार है । इस तथ्य के पालन के लिए अन्य साधन व तरीके खोजे जाने चाहिए ।

परीक्षाओं मे फेल होकर या परीक्षाओं में नकल करते हुए पकड़े जाने पर आज कितने विद्यार्थी समय से पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेते हैं ? फूल बनकर सुगन्ध फैलाने के पूर्व ही वे पंखुड़ी के रूप में परिस्थितियों द्वारा मसल दिये जाते हैं और कितने ही सूर, तुलसी, कालिदास या रामानुजम् से समाज वंचित हो जाता है । आये दिन ऐसे उदाहरणों से जुड़े विद्यार्थियों के तालाब में डूबने या रेल से कटने या भवनों से गिरने के समाचार पढने को मिलते हैं । क्या आवश्यक है कि जुलाई मे पढाये गये अंश की मार्च में ही परीक्षा हो ? क्यों नहीं जुलाई में ही या पढ़ाने के तत्काल बाद ही परीक्षा ले ली जाय ? जिस प्रश्न पत्र मे या विषय में पास हो जाय उससे मुक्ति मिले । उस विषय की अगली बार परीक्षा देने से, जिस विषय में वांछित योग्यता प्राप्त करली है, उसकी फिर परीक्षा क्यो ? इस प्रकार परीक्षा कई किश्तो में पास की जा सकती है।

परीक्षा में कोई विद्यार्थी फैल हो गया, वह ही परीक्षा दे एक बार, दो बार,"""" दस बार । कैसा नियम है ? अध्यापक को कभी नहीं पूछा जायेगा कि आप अपना अन्तर्दर्शन कीजिये—पता लगाइये कि आपके पढ़ाने में, पढाने के तरीके में कहीं गलती तो नहीं हो रही है ? परीक्षा पास होने का क्या सामान्य मापदण्ड है ? जो उत्तीर्ण होने का मापदण्ड जयपुर के सम्पन्न कहे जाने वाले स्कूल का है क्या वही मापदण्ड उदयपुर जिले के आदीवासी बहुल क्षेत्र कोटड़ा तहसील मुख्यावास से दूर स्थित साधन हीन स्कूल के लिए तय करना विवेकहीनता नहीं है ? क्या इस पर सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाना उपयुक्त नही है ? कई बच्चों के अभिभावक शिक्षित

हैं। यदा-कदा वे अपने बच्चों से उनकी पढ़ाई के बारे में पूछ लेते हैं, सम्भव है, घर पर एकाध पत्र पत्रिका भी वे मंगवाते हो ऐसी स्थिति में निश्चित है कि उनकी सूचनायें अपेक्षाकृत अधिक होंगी । क्या अध्यापक परीक्षा के समय इन सब बातों पर भी ध्यान रखते हैं ? स्पष्ट है कि ऐसा करने से अध्यापकों का काम बढ़ता है।

तीन घंटे की अवधि में 100 अंकों की एक परीक्षा में एक कक्षा के कुछ छात्रों ने सभी 10 प्रश्न किये हैं, अधिकांश ने पांच प्रश्न, तथा पाच 5 छात्रों ने 2 प्रश्न तथा मात्र एक छात्र ने एक ही प्रश्न हल किया है। पर सबके उत्तरों का विस्तार लगभग बराबर है। हमारा परीक्षक सभी छात्रो को एक लाठी से हांक रहा है क्या हमारे शिक्षकों ने सब छात्रों के साथ न्याय करने के लिए कोई विवेकसम्मत तरीका निकाला है ? एक प्रश्न करने वाले को एक प्रश्न 100 अंक का मानकर दो प्रश्न करने वालों को प्रत्येक प्रश्न 50 अंक का मानकर या 5 प्रश्न करने वालों को प्रत्येक प्रश्न 20 अंक का मानकर या 10 प्रश्न करने वालों को प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का मानकर अंक देने की क्या योजना बनाई है ? ऐसा निश्चय ही नही किया गया है। ऐसा करने से अध्यापक का श्रम बढता है तथा हम श्रम से बचना चाहते हैं। बालकों के कल्याण की किसे चिन्ता है ?

कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या का भी परीक्षा फलों पर प्रभाव पड़ता है । 40 छात्रो की कक्षा मे 40 मिनिट के कालांश मे शिक्षक प्रति छात्र औसतन एक मिनिट उन पर वैयक्तिक ध्यान दे सकता है । पर यदि किसी अन्य स्कूल में 10-12 विद्यार्थी ही कक्षा मे हों तो क्या उनसे उच्च-सम्प्राप्ति की आशा नही करनी चाहिए ? कम छात्रों की कक्षा मे शिक्षक बालको पर अधिक समय वैयक्तिक ध्यान दे सकेगा । इस पर विवाद की गुंजायश कम ही है। कितने अध्यापक है जो विद्यार्थियों की पाठ्यक्रम में कमजोरी का स्थल ज्ञात कर आवश्यकतानुसार बालक को अधिक अभ्यास कार्य करवाते हैं या उनका मार्गदर्शन कर अधिक अभ्यास कार्य के लिए प्रेरित करते हैं ? मान लीजिए बालक ऐकिक नियम या पत्र लेखन में कमजोर है पर सामान्य कक्षा में उन बालको पर ऐकिक नियम या पत्र लेखन पर अधिक अभ्यास कार्य नही करवाया जाता है । सामान्य कक्षा में अन्य प्रकरणों के समान ही उन पर भी अभ्यास करवाया जाता है तो आप अच्छे श्रेष्ठ परीक्षा फलो की आशा कैसे कर सकते हैं ? बालकों को जहां सहायता की आवश्यकता है, वही बालक का मार्गदर्शन किया जाय ।

नई शिक्षा नीति से अध्यापक की जवाबदेही

'एकाउण्टेबिलिटी' अंग्रेजी शब्द का हिन्दी रूपान्तर जवाबदेही किया जाता है। अध्यापक की जवाबदेही पर शिक्षा नीति में बहुत कुछ कहा गया है। शिक्षा अनुदेशन प्रशिक्षण एवं अधिगम से एक साथ जुड़ा पेचीदा कार्य है। शिक्षार्थी ज्ञान, अवबोध सूचनाएँ, कौशल तथा व्यवहार के प्रतिमान (पेटर्न) ही ग्रहण नहीं करते वरन् मूल्यांकन सहित इन सबसे जुड़े औचित्य (मूल्यों) पर भी ध्यान देते हैं। इस प्रकार इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी के स्वभाव निरूपण, चातुर्य-कौशल तथा निष्पादन पर ही ध्यान नहीं देना है वरन् आलोचनात्मक चिन्तन, रचनात्मक एवं सकारात्मक दृष्टिकोण, अर्थ समझना तथा श्लाघा गुण के विकास की योग्यता को भी दृष्टिगत रखना है। संक्षेप में अध्यापक की जवाबदेही तीन तत्वों पर निर्भर करती है

1. कार्य जो अध्यापक करता है।
2. कार्य के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन की विधियाँ, और
3. कार्य से सम्बद्ध लोगों की राय।

वेतन भोगी अध्यापक के कार्य में मूल्यांकन, निरीक्षण एवं वीक्षण के माध्यम से सुधार लाया जा सकता है पर मूल तत्वों की संकल्पना की सोच में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रत्येक अध्यापक को यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि अध्यापन कार्य स्वीकार करते ही बच्चे की शिक्षा तथा उसके फलस्वरूप बच्चे में होने वाले परिवर्तनों के लिए उसकी जवाबदेही स्थिर हो जाती है। अभिभावक बच्चे को स्कूल भेजते हैं, समाज या समाज के लिए सरकार शिक्षक को पारिश्रमिक देती है चूँकि शिक्षक की सेवायें बालक को लाभ पहुँचाती है। मूलतः नियोक्ता तथा नियुक्ति पाने वाले के बीच एक समझौता होता है कि पूर्व निश्चित शुल्क या पारिश्रमिक भुगतान पर एवं विशिष्ट विधियों को काम में लेते हुए यदि पूर्व निश्चित तिथि तक समझौते के अनुसार प्राप्तियां नहीं होती हैं तो

नियुक्ति पाने वाला वांछित फल मिलने तक निश्चित तिथि के बाद भी बिना अतिरिक्त शुल्क लिये या पारिश्रमिक प्राप्त किये प्रयत्न जारी रखना है। इसके दूसरी ओर, यदि नियोक्ता काम को निश्चित समय से पूर्व कम समय में समाप्त करवाना चाहे या उतने ही समय में अधिक काम करवाना चाहे या काम गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ चाहे तो नियुक्ति पाने वाले को अधिक प्रयत्न करने होंगे—अधिक इकाइयां काम में लेनी होंगी, और अधिक अच्छी सामग्री प्रयोग में लानी होगी। क्या नियोक्ता इन सब के लिए अधिक भुगतान नहीं करेगा? करेगा, अवश्य ही प्रसन्नतापूर्वक करेगा। इसी प्रकार विद्यालय की स्थिति में एक निश्चित संख्या से अधिक विद्यार्थी भर्ती करने पर विद्यार्थियों की उपलब्धियों के अनुसार विद्यालय के शिक्षकों को अधिक पारिश्रमिक के भुगतान की व्यवस्था करनी चाहिए। विद्यार्थी निश्चित योग्यता एवं कौशल प्राप्त करता है। अब यदि इस समझौते के अनुसार विद्यार्थियों की योग्यताओं एवं कुशलताओं का स्तर असाधारण रूप से श्रेष्ठतम है तो क्या अध्यापक को प्रोत्साहन के लिये कोई प्रयत्न राज्य या समाज को नहीं करना चाहिए? अध्यापक ऐसे प्रोत्साहन का पूरा-पूरा अधिकारी है। यहां इस बात पर ध्यान रखा जाना नितान्त आवश्यक है कि प्रोत्साहन या सम्मान के लालच में अध्यापक अवांछनीय तरीके या विधियां न अपना ले या वह निम्न गति-विधियों में लिप्त न हो जाय। इसके लिए परिवीक्षण अधिकारियों के दायित्व को कम महत्वपूर्ण नहीं आंका जा सकता।

रूस में अध्यापकों का महत्व देखिये। वहां विद्यार्थी एक निश्चित समय तक बाजार में घूम सकते हैं। उस समय के बाद घूमने पर विद्यार्थियों के इस कार्य के लिये उनके अध्यापकों को जवाबदेह माना जाता है। कल्पना कीजिये कि बाजार 11.00 बजे रात्रि में बंद है छविगृह दूर हैं। अब यदि कोई छात्र सड़क पर घूमता है तो अध्यापक की ही जिम्मेदारी मानी जाती है। कारण कि छविगृह दूर होने पर तथा बाजार बंद होने पर छात्र के निरर्थक बाजार में घूमने का क्या अर्थ हो सकता है? यदि वहां कोई विद्यार्थी पेन छिड़क कर फर्श पर स्याही फैला देता है या टॉफी खा कर उसका रेपर वाला कागज कहीं फेंक दे तो विद्यार्थी के इस अवांछनीय कार्य के लिए भी अध्यापक ही जिम्मेदार बताये जाते हैं। वहां की व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि समाज के अन्य अंग भी इन कार्यों में मदद करते हैं—जब विद्यार्थियों के विद्यालय जाने का समय होता है तो पूर्व निश्चित मार्गों पर जनसाधारण

तथा भारी वाहनों का गुजरना बंद हो जाता है। वहाँ के प्रशासकों का यह मानना है कि विद्यार्थी समाज के महत्वपूर्ण अंग हैं।

बैंक में कार्य करने वाला या पोस्ट आफिस का लिपिक कहीं चला जाता है तो ग्राहकों की लाइन लग जाती है। उन्हें डर रहता है कि ग्राहक उच्चाधिकारी से शिकायत कर देंगे, चिल्लायेंगे। उन्हे काम करना है, वे रुकते हैं। यदि कभी कहीं जाना भी होता है तो साथी को कह देते हैं कि मेरा काम भी निपटा दे। फिर अध्यापक स्कूल में आये नही या कक्षा में जाकर न पढ़ाये, जनसाधारण से करों के रूप मे प्राप्त धन राशि से अध्यापक का वेतन चुकाया जाय तो सरकार अध्यापक से काम क्यों नही चाहेगी? क्यों नही उसकी जवाबदेही निश्चित करेगी? स्थितियां ऐसी उभर रही हैं कि अवश्य ही जवाबदेही निश्चित की जानी चाहिए, कोई भी समझदार व्यक्ति इससे मना नही करेगा। आज जब अध्यापक कक्षा में पढ़ाते नही हैं, वे कक्षा में मात्र समय काटते हैं और आशा करते हैं कि छात्र घर पर ट्यूशन पढ़ने के लिए आए तो जवाबदेही निश्चित करना और भी जरूरी हो जाता है। कोई विद्यार्थी दो माह से किन्ही कारणों से विद्यालय नहीं आ सका, वह पढ़ाई में विद्यालय के कार्यकलापों में, गतिविधियों मे पिछड़ गया है तो उसे निजी रूप से अध्यापक की सहायता की, मार्गदर्शन की आवश्यकता है तथा यह भी स्पष्ट है की यह कार्य अध्यापक ही करेगा, इसमे कभी भिन्न-भिन्न दो राय बन ही नही सकती। विरोध तो वहाँ है जबकि अध्यापक परीक्षा से दो या तीन माह पूर्व विश्वास दिला कर परीक्षा पास कराने की दृष्टि से ट्यूशन के नाम पर पढ़ाना आरम्भ करता है। न केवल इतना ही, महत्वपूर्ण प्रश्नों की आड़ में प्रश्न पत्र आउट कराना, ट्यूशन पढ़ने वाले छात्रो की परीक्षा की उत्तर पुस्तकें उदारता से जाँचना तथा साथियो से मिलकर चाहे गये छात्रों के परीक्षाफल को अपने पक्ष मे प्रभावित करवाना। यदि कोई अधिकारी बीमार रहे, बीमारी के उपचार के व्यय का राजकीय कोष से पुनर्भरण हो, वे कार्यालय न आयें, बीमार होने से घर पर ही रहे, इन स्थितियों मे वे यदि किसी कार्यशाला के निदेशक के रूप मे कार्य करते हुए, पारिश्रमिक ले लें, रुग्णावस्था मे ही वे विश्वविद्यालय या बोर्ड की परीक्षाओं के समय अधीक्षक के रूप में पारिश्रमिक प्राप्त करे तो किसी भी समझदार उच्चाधिकारी को आवश्यक पूछताछ कर जवाबदेही निश्चित करना चाहिए। इन सब स्थितियों से स्पष्ट है कि आज के इस आपाधापी के युग मे जवाबदेही सही रूप में निश्चित की जानी अपरिहार्य हो गई है।

उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। किसी स्थान पर दो अध्यापक हैं। एक अध्यापक के छात्र द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे हैं, माता-पिता का सम्मान करते हैं, नवागन्तुकों का विनम्रतापूर्वक आतिथ्य करते हैं, सही तरीके से विद्यालय का गृहकार्य निपटाते है, व्यवहार में यथावश्यक गम्भीरता एवं शालीनता वर्तते हैं, जबकि दूसरे अध्यापक के छात्र प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे हैं परीक्षाओं के समय आतंक फैला कर अनुचित साधनों का लाभ उठाते रहते हैं, अतिथियों का कोई सम्मान नहीं करते, माता-पिता का कहना नहीं मानते हैं, विद्यालय का फाटक छोड़ते ही कक्षा की बालिका साथी का दुपट्टा खींच लेते हैं, रेल मे बिना टिकिट यात्रा करते हैं, तथा पकड़े जाने पर धमकी देकर बाहर निकल आते है। इन स्थितियों में मापन की कठिनाई यह आती है कि किस अध्यापक ने सही रूप से जवाबदेही निभाई ? इसका मापदण्ड क्या हो ? अध्यापक तो विद्यालय मे पढ़ाये जाने वाले विषयों का ही मूल्यांकन करते है, अन्य भावनात्मक एवं क्रियात्मक क्षेत्रों में विद्यालय की भूमिका प्रत्यक्षतः नगण्य है। यदि विद्यालय कक्षाकक्ष के बाहर की अन्यान्य गतिविधियों का मूल्यांकन करना भी चाहे तो मापदण्ड या तकनीक क्या है ? चरित्र या व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों के मूल्यांकन की तकनीकों पर तो वैधता एवं विश्वसनीयता का भी प्रश्नचिन्ह लगा ही रहेगा। मूल समस्या यह है कि अध्यापक की जवाबदेही का मापन दुरूह नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। आज के सन्दर्भ में इस पर विचार किया जाना प्रथम स्थान पर महत्वपूर्ण है।

जब शीर्षस्थ अधिकारी जवाबदेही पर चर्चा करते हैं तो अधीनस्थ सहकर्मी तथ्यात्मक, वस्तुनिष्ठ, भिन्न विचार या तो प्रकट ही नहीं करते हैं या फिर बहुत ही दबे स्वरों में धीमे से बोलते है। सम्भवतया यह भी हमारे सांस्कृतिक धरोहर का ही अंग है। सरकार जब धन खर्च कर रही है तो परिणाम भी चाहेगी ही। पर क्या इसका शब्दशः दृढ़ क्रियान्वयन में अन्य बुराइयां समाविष्ठ नहीं हो जायेंगी ? जवाबदेही निभाना है अच्छा परीक्षाफल। परीक्षा फल निम्न रहने पर अध्यापक को अनुउत्तरदायी माना जाय, अपील नियन्त्रण एवं वर्गीकरण नियमों के अनुसार कार्यवाही की जाय, दण्ड दिया जाय या पदानवत किया जाय। क्या इन सब खतरों एवं डरों के कारण अध्यापक अच्छा परीक्षा फल बनाने के लिए अवांछनीय हथकण्डे नहीं अपनायेगा ? इसकी क्या गारण्टी है ? साथियों से मिलकर अच्छा परीक्षा फल, यह भी सम्भव है कि अध्यापक छात्रों को परीक्षा भवन

में ही नकल करवा दें या नकल करने को प्रोत्साहन दें या हतोत्साहित न करें। क्योंकि प्रत्येक अध्यापक अनाकर्षक स्थितियों से बचना ही पसंद करेगा, छात्रों से बिना उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखे गृहकार्य करवाना, आदि ऐसे कई कदम हो सकते हैं जिनसे छात्रों के अभिभावक बचाना ही पसंद करेंगे । इसके दूसरी ओर एक अध्यापक बच्चों के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए उपयुक्त मात्रा में ही गृहकार्य देता है । अब प्रश्न उठता है कि उपयुक्त जवाबदेही कौनसा अध्यापक वहन कर रहा है ? इसी भांति यदि छात्र अपने मामा के यहाँ किन्हीं कारणों से गया है या परिवार में शादी होने से कई दिन विद्यार्थी के विद्यालय न आने से वह कक्षा के कार्य में पिछड़ गया है, समय के अन्तराल के बाद विद्यालय आने पर पिछला पाठ न पढ़ने से उसे पाठ में रुचि नहीं है, छात्र पाठ समझ नहीं पा रहा है तो वह अगले दिन उस अध्यापक की कक्षा में अनुपस्थित रहने का प्रयत्न करेगा या विद्यालय आ गया है तो अध्यापक से आख बचाकर विद्यालय से भाग निकलने की योजना बनायेगा । एक बालक सप्ताह में 2-3 दिन बकरियां चराता है या खेत पर काम करके पिता की सहायता करता है, इसी भांति बालिकायें छोटे भाई बहिनों को सम्भालती हैं जिससे मातायें रसोई घर का काम निपटा सकें या पुरुषों को खेत पर सहायता दे सकें । ऐसी स्थिति में भी क्या जरूरी है कि बालक के सही अर्थों में सर्वांगीण विकास के लिए अध्यापक एक मात्र अध्यापक ही जवाबदेह हो ?

समाज ने अपने बालकों की शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य अध्यापकों को सौंपा है । अमुक मात्रा में अमुक कक्षा के सामान्यतया अमुक आयु वर्ग के बालकों को अमुक संख्या तक के पहाड़े या गणित के नियम तथा अमुक संख्या में शब्द भण्डार सीख लेना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि क्या गणित के प्रखर बालक अनिवार्यतः भाषा में भी प्रखर होंगे ही ? यह कोई आवश्यक नहीं है । गणित के प्रखर बालक भाषा में प्रखर हो भी सकते हैं तथा नहीं भी, दोनों की समान सम्भावनायें हैं । इसी भांति उदाहरणार्थ तीन बालक 1 से 100 तक की गिनती जानते हैं । उनमें से एक बालक 100 से 51 तक की उलटी गिनती भी बोल लेता है तथा दूसरा बच्चा 80 से 31 तक की तथा तीसरा बच्चा 50 से 1 तक की उलटी गिनती बोल लेता है । तीनों बच्चों का समान स्तर पाया गया है । पर इस उदाहरण में गणित के अध्यापक मानेंगे कि तीनों बालकों के सीखने की कठिनाई का स्तर भिन्न-भिन्न है । प्रथम तथा द्वितीय बच्चा तृतीय बच्चे की तुलना में श्रेष्ठ है । कारण

कि वे 70 से 61 तक कठिन व क्रमबद्ध्यगितनी उलटी तरफ से भी बोल लेते हैं। अब यदि इन बच्चों को दो या तीन अध्यापक पढ़ा रहे हों तो प्रश्न उठता है कि कौनसा अध्यापक सही अर्थ में जवाबदेही निभा रहा है ?

दूसरा उदाहरण एक बालक कमल के पांच पर्यायवाची शब्द जानता है, जो प्रायः कक्षा के अन्य सभी बालक भी जानते हैं । पर उसी कक्षा में एक बालक ऐसा भी है जो कमल के वे पांचों पर्यायवाची शब्द तो नहीं जानता है जो कक्षा के अन्य सभी छात्र जानते हैं पर वह अन्य पांच शब्द जानता है और वे पांचों या उनमें से कोई एक या दो शब्द भी अन्य कोई बालक नहीं जानता है । बालक के इन असाधारण शब्दों के जानने या याद रखने पर उसके भाषा अध्यापक को श्रेय दिया ही जाना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि जवाबदेही का मापन किया भी जा सकेगा या नहीं । यदि इसका उत्तर सकारात्मक है तो अगला प्रश्न है कि क्या मापन वस्तुनिष्ठ हो सकेगा ? फिर गुणात्मक गुणों का मूल्यांकन कैसे होगा ? वस्तुनिष्ठ भी ? यह दोहरी कठिनाई है ।

इतना ही नहीं, कठिनाई तब और अधिक पेचीदी हो जाती है, जब दो सर्वथा भिन्न क्षेत्रों से मूल्यांकन करना होता है। गणित के पहाड़े तो रटते हैं पर इतिहास की पाठ्य सामग्री को आलोचनात्मक ढंग से समझना या उसको विधिवत पद क्रमानुसार प्रस्तुत करना होता है या बालक में स्वस्थ आत्मप्रत्यय का विकास करना होता है । यहां प्राथमिकताओं का क्रम निश्चित किये बिना काम नहीं चल सकता और यह प्राथमिकताओं का क्रम भी वस्तुनिष्ठ नहीं, व्यक्तिनिष्ठ ही होगा ।

अब जवाबदेही करने के लिए मूल्यांकन दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम संख्यात्मक जैसे परीक्षा के अंक, शारीरिक वृद्धि, खेलों की उपलब्धि तथा द्वितीय गुणात्मक जैसे-आलोचनात्मक चिन्तन, सहिष्णुता, श्लाघा, अभिनय, सहयोग एवं रचनात्मक लेखन आदि। यहां दूसरे प्रकार की उपलब्धि का वस्तुनिष्ठ मापन एवं मूल्यांकन कठिन ही नहीं असम्भव है। इस प्रकार के गुणों का मूल्यांकन बालक के व्यवहार का निरीक्षण करके ही किया जा सकता है जिसका मापदण्ड हर व्यक्ति । अध्यापक का अपना पृथक होगा। मूल प्रश्न यह है कि उपलब्धियों को जिस किसी मापदण्ड की तुला से नापी जाय, वे जनसाधारण को स्वीकार होनी चाहिए ।

आज की परिस्थितियों में जवाबदेही कोई स्वीकार नहीं करता, सब एक दूसरे पर स्थानान्तरित करते आ रहे हैं। वैसे इस पर गम्भीरता से सोच-विचार करना आज की स्थितियों में कार्य निष्पादन में सुधार हेतु अत्यन्त आवश्यक लगता है। विद्यालय में जिन सामाजिक-शैक्षिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाता है, इस सम्बन्ध में कक्षाध्यापन करवाने वाले सम्बन्धित शिक्षक की भूमिका नगण्य है, फिर इन विद्यार्थियों का परीक्षाफल कैसा रहेगा-क्या रहेगा, इसके लिए उस अध्यापक को जवाबदेह बताया जाता है। परीक्षाफल तो, शिक्षा से जुड़े अधिकारी मानेंगे कि, एकाधिक घटकों या तथ्यों पर निर्भर करता है। क्या वे सभी तथ्य अध्यापक के नियन्त्रण में हैं? यदि ऐसा नहीं है तो उस अध्यापक को जवाबदेह बनाया जाना कहाँ तक उपयुक्त है न्यायसंगत है? विद्यालय का सामाजिक पर्यावरण, पुस्तकालय की समृद्धता, सुरम्य खेल के मैदान, आधुनिक उपकरणों से सज्जित प्रयोगशालायें विद्यालयों में उपलब्ध सहायक शिक्षण सामग्री, अध्यापकों की शैक्षिक व अशैक्षिक योग्यतायें, विद्यार्थी-विद्यार्थी, विद्यार्थी अध्यापक एवं अध्यापक-अभिभावक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं, जिन पर भी छात्र की उपलब्धि निर्भर करती है। यदि ये सब बातें अध्यापक के अधिकार क्षेत्र मे या नियन्त्रण में नहीं आती हैं तो फिर उसे जवाबदेह क्यों बनाया जाता है? जो लोग आधे मन से अध्यापन कार्य में आते हैं, जब उनको जवाबदेह बनाया जायेगा तब तक वे अध्यापन कार्य छोड़ कर अन्य कार्य सम्भाल लेंगे। क्या यह जवाबदेही का मखौल नहीं होगा? क्या अध्यापन कार्य के लिये सही व्यक्ति का चयन किया जा रहा है? सर्व प्रथम तो इस पहेली को ही हल किया जाना चाहिए।

जवाबदेही नहीं निभाई गई है यदि यह सही है तो यह भी सही है कि विद्यार्थियों तथा शिक्षकों की योग्यता तथा आकांक्षाओं पर शिक्षा प्रशासकों द्वारा ध्यान नहीं दिया गया है। बी. वी. जॉन (1978) का यह कहना कितना सत्य है कि न तो विद्यार्थियों के सीखने एवं उनके कामों पर ध्यान दिया जाता है तथा न ही शिक्षकों के कार्यों पर निगाह रखी जाती है-न उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध है। स्थिति यह है कि बालक को कुछ न पढ़ाओ तो भी उसकी फीस देने वाला पिता कुछ नहीं कहता है। इसीलिए प्रमाण-पत्र या उपाधियों को सामाजिक स्वीकृति समाप्त हो गई है। हर नियुक्ति देने वाला संस्थापन सभी आशार्थियों की—चाहें वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हों अपनी परीक्षा लेता है।

जवाबदेही के क्षेत्र में शिक्षक संघ सराहनीय भूमिका निभा सकते है, पर आज तक किसी एक शिक्षक संघ का भी ध्यान इस ओर नही गया है। खोटा, खराब या घिसा सिक्का अच्छे सिक्कों को चलन से गायब कर देता है—यही स्थिति शिक्षकों की है। यदि सरकार ने उनको पदोन्नति का आश्वासन दे दिया है तो जनसाधारण उनसे अच्छे कार्य की आशा कैसे कर सकती है ? जनता कामचोर तथा काम करने वाले में क्यो विभाजन करे ? और यदि करे भी तो उसका उपयोग क्या ? मानेगा कौन इसे ? पर सरकार को यह कहना चाहिए—इसके लिए साधन व तरीके खोजे जाने चाहिए।

इस मुद्दे पर पक्ष-विपक्ष में विस्तृत एवं गम्भीरता से विचार करने पर अच्छा यह होगा कि अध्यापकों को बालकों के अधिगम के लिये नहीं वरन् उनके द्वारा करणीय कार्यों के लिए जवाबदेह बनाया जाय। विद्यार्थियों के अधिगम के लिए कुछ शिक्षाशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों की राय के अनुसार, अध्यापकों को जवाबदेह नही माना जाय, क्योंकि बालक का अधिगम किसी एक घटक से प्रभावित न होकर विद्यालय के बाहर के कई घटकों सहित कई तथ्यो से प्रभावित होता है। शिक्षा पर सही अर्थों मे विचार करने पर अब कई सतही बातें या चीजें पृथक पड़ जायेंगी, केवल परीक्षाफलों पर ही ध्यान नही दिया जायेगा, अब बालक में होने वाले व्यवहारगत परिवर्तन केन्द्रीय घूरी बन जायेंगे, जो शिक्षा का सही कार्य है।

एक नव क्रमोन्नत विद्यालय में 20-22 व्यक्ति काम कर रहे हैं और उनमें से किसी का भी कोई प्रकरण निर्णय हेतु प्रधानाध्यापक के पास विचाराधीन नहीं है। पर इसके दूसरी ओर एक अन्य 20-25 वर्ष पुराने विशाल विद्यालय मे 80-85 कर्मचारी काम कर रहे हैं तथा अब यह भी कल्पना कीजिये कि दो बार पूर्व से ही एक अध्यापक का वेतन स्थिरीकरण नही हुआ है तो भी दूसरे बड़े विद्यालय के प्रधानाध्यापक का कार्य प्रतिशत में कम होते हुए भी प्रथम विद्यालय के प्रधानाध्यापक से कहीं अधिक अच्छा तथा गुणात्मक रूप से उच्च स्तर का है। पर इस जवाबदेही की शब्दावली मे उसे निम्न स्तर का ही माना जायेगा। कैसी है यह विडम्बना ? विद्यालयों में अध्यापकों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों या कार्यों के परिणाम तत्काल नही दीखते पर कालान्तर में ही इन पर विचार किया जा सकता है। अध्ययन अध्यापन प्रक्रिया एक अत्यन्त नाजुक प्रक्रिया है। यहां निर्जीव वस्तुऐं नही है जैसा अन्य विभागों में पाया जाता है। बालक सजीव है, संवेदनशील

प्राणी है, सुख-दुख, हर्ष-विषाद वह अनुभव करता है तथा वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, हर क्षण उसे नये-नये अनुभव प्राप्त होते हैं। शिक्षा अधिकारी या संस्था प्रधान अन्य विभागों के समान बालकों को निर्जीव समझ कर उनके साथ व्यवहार नहीं कर सकते।

यहाँ शिक्षण की सीमाओं पर भी विचार करना समीचीन लगता है। प्रथम तो वीक्षण के उपकरण ही त्रुटि रहित या आलोचना से परे हो, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर मानवीय कमजोरियाँ सभी जगह व्याप्त हैं। दोष रहित उपकरण न मिलना, समय की कमी, अन्य कार्यों का भार, अधिकारियों का सहयोग न मिलना, वीक्षण अधिकारी की समय, मात्रा एवं स्थान सम्बन्धी सीमायें भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन सब कारणों या सीमाओं को दो बड़े वर्ग में बाँटा जा सकता है—मूर्त एवं अमूर्त। इन स्थितियों में जिला शिक्षा अधिकारी सही मूल्यांकन नहीं कर सकते, कई बार उन्हें पता ही नहीं लगता कि विद्यालय की वास्तविक स्थिति क्या है और कई बार विद्यालय प्रधान अपने साथियों की मदद से उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर उपलब्धियाँ बताकर प्रभावित करने में सफल भी हो जाते हैं। फिर जिला शिक्षा अधिकारी सभी विषयों के अध्यापन में निष्णात नहीं हो सकते। यह मान लिया जाय कि इसकी जगह दलीय परिवीक्षण का रिवाज चल पड़ा है तो भी अन्य मानवीय कमजोरियाँ तो है ही। दूर दराज विद्यालयों में तो कभी-कभार ही वीक्षण कार्य होता है, जिला शिक्षा अधिकारी वहाँ क्यों नहीं पहुँच पाते, शिक्षा विभाग की विद्यालय प्रधान से क्या-क्या अपेक्षायें हैं, इसका उन्हें ज्ञान ही नहीं है तथा बना दिया जाय उन्हें जवाबदेह—यह कहाँ का न्याय होगा ?

आज यह माना जाने लगा है कि विद्यालय प्रधान द्वारा समय-समय पर तथा जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा उसके विषय विशेषज्ञों के दल सहित मूल्यांकन किया जाना चाहिए। यह प्रक्रिया वर्ष में कई बार दोहराई जानी चाहिए तथा आवश्यकतानुसार अध्यापकों को तत्काल ही मार्ग-दर्शन के रूप में सहायता दी जानी चाहिए। विद्यालय के कार्यक्रम, मूल्यांकन विधियाँ, व्यक्तित्व के विकास के लिए शैक्षिक तथा सहशैक्षिक कार्यकलाप तय करने में अभिभावक, अध्यापक एवं बालक महत्वपूर्ण एवं अधिक सारपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

प्रथम—मूल्याधारित कार्यक्रम तय करना तथा

द्वितीय—मूल्यांकन की उपयुक्त कसौटी तय करना, कार्यक्रम सुझाना।

इस सम्बन्ध में कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66)[1] की टिप्पणी दृष्टव्य है, जिसके अनुसार "जिन बातों को ध्यान में रखा जा सकता है उनमे से कुछ इस प्रकार हैं : स्थानीय समुदाय से सम्बन्ध, शिक्षकों की योग्यतायें और एक ही संस्था मे लम्बे समय तक उनका रखा जाना, अन्त: सेवा प्रशिक्षण कार्यक्रम जिनका आयोजन स्वयं स्कूल ने किया हो या जिसमे अध्यापकों ने भाग लिया हो, स्कूल में चलायें गये विशेष कार्यक्रम जैसे प्रयोगात्मक कार्य, उच्च या समृद्ध पाठ्यचर्या या मूल्यांकन की नई पद्धतियां, योग्य तथा पिछड़े छात्रों पर दिया गया ध्यान या उनके सुधार के लिये किये गये प्रयत्न, स्कूल अनुशासन, अपव्यय एवं अवरोधक, सार्वजनिक परीक्षाओं के परिणाम, छात्रों द्वारा प्राप्त छात्रवृत्तियां, स्कूल से पढ़ कर निकले हुए पुराने छात्रों के व्यवसाय, सहपाठ्यचर्या से जुड़े कार्यों का आयोजन और उनमें स्कूल द्वारा जीते गये पदक एव पुरस्कार।"

इस प्रकार मूल्यांकन के उपकरणो में निम्न बातें सम्मिलित की जानी चाहिए अर्थात मूल्याकन के वक्त निम्न बातो पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

भौतिक सुविधाएँ— भवन, अन्य सामान्य सुविधाएँ, उपस्कर उपकरण, सहायक शिक्षक सामग्री, उद्यान, कृषि योग्य भूखण्ड एव क्रीड़ागण।

शैक्षिक गतिविधियां— पाठ्यक्रम, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियायें, छात्र कल्याणकारी सेवायें, निर्देशन सेवायें आदि।

आपसी संगुथन-सहसम्बन्ध-विद्यालय परिवार का,

विद्यालय का समाज से सम्बन्धः

प्रबन्ध प्रक्रिया :—विद्यालय योजना, वीक्षण, मूल्यांकन, व्यावसायिक

---

1. कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) का प्रतिवेदन (जव) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली : प्रबन्धक, प्रकाशन विभाग, हिन्दी संस्करण, 1968, पृष्ठ 291-292.

विकास के लिये अन्तः सेवा प्रशिक्षण। शिक्षा, उत्प्रेरणा, नवाचार, शिक्षण में स्वातन्त्र्य, शैक्षिक नेतृत्व।

परीक्षाफल।

जिला, क्षेत्रीय, राज्य एवं राष्ट्र स्तरीय प्रतियोगिताओं में शिक्षकों, प्रधानाध्यापकों, विद्यार्थियों एवं विद्यालयों को मिलने वाले पदक, पुरस्कार एवं सम्मान आदि।

इन बिन्दुओं पर मूल्यांकन के क्षेत्र में विस्तृत विवरण तैयार किया जा सकता है।

निम्न बातें भी मूल्यांकन प्रतिवेदन तैयार करने में मदद कर सकती हैं—

1. शिक्षक अपने किये कार्यों का प्रतिवेदन स्वय तैयार करें,

2. उच्चाधिकारियों सहित अन्य लोग भी शिक्षक के कार्यों का प्रतिवेदन तैयार करें और

3. विद्यार्थियों से भी शिक्षक के कार्यों का प्रतिवेदन किया जाय।

इन प्रतिवेदनो मे निर्विवाद रूप से कार्यों की मात्रा एवं उनकी गुणवत्ता पर ही ध्यान दिया जाय। निष्कर्षतः इन प्रतिवेदनों में वर्णित कार्य ही जवाबदेही का साधन बन जायेंगे।

इन बिन्दुओं पर सूचना संग्रह करना आसान कार्य नहीं है, यह समय लेने वाला तथा निरन्तर प्रयत्नों का कार्य है। इन सूचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है—भौतिक तथा मानवीय। भौतिक सुविधायें-छात्र शिक्षक, दोनों का अनुपात, परीक्षाफल, पुस्तकालय, क्रीडागण, पदक पुरस्कार, सम्मान आदि पर सूचनाएँ संग्रह करना कठिन नहीं है। कठिन है मानवीय सम्बन्ध, समस्यात्मक वातावरण, अध्यापकों का मनोबल, कल्याणकारी सेवायें, समाज के साथ सम्बन्ध, अध्यापन का गुणात्मक स्तर, आदि। इस कार्य में मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, प्रबन्धकीय कुशलता प्राप्त व्यक्तियों का सहयोग लिया जाना चाहिए। साक्षात्कार, निरीक्षण, प्रश्नावली, अनुसूची, मान निर्धारणी आदि से प्राप्त सूचनाओं को अर्थपूर्ण बनाने के लिए तालिकाएँ तैयार कर विश्लेषण किया जाना चाहिए। निष्कर्षों की जानकारी, स्थितियों में सुधार के लिये सम्बन्धित व्यक्तियों तथा विद्यालय को समय पर

दी जानी चाहिए। यह कार्य समय के एक निश्चित अन्तराल पर निश्चित होता रहे तो आशा की जानी चाहिए कि विद्यालय का संगठनात्मक वातावरण, अध्यापकों की कार्यक्षमता, उनके आपसी सम्बन्ध तथा विद्यालय की प्रतिष्ठा में निश्चित रूप से सुधार होगा।

आज के सन्दर्भ में यह स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं है कि कामचोरी, पक्षपात, घोखा-धड़ी, काम टालना, आदि बुराइयों से मुक्ति पाने के लिए जवाबदेही पर ध्यान दिया ही जाना चाहिए। साथ ही इस डर के प्रति सचेत रहना होगा कि कहीं इस तथ्य पर यन्त्रवत अत्याधिक बल देने से शिक्षक शिक्षार्थी के सम्बन्धों में कड़वाहट पैदा न हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो बालक के व्यक्तित्व के विकास में बाधा आ सकती है। विद्यार्थी जानते हैं कि भविष्य उनकी अच्छी शैक्षिक उपलब्धि पर निर्भर है तथा अच्छी या उत्तम शैक्षिक उपलब्धि अपने अध्यापकों की विपुल एवं असीमित उदारता पर निर्भर है और, फिर बालकों की श्रेष्ठ उपलब्धि के लिए कहीं शिक्षक ही शार्टकट न अपनाने लगें. साथी अध्यापकों से मिलकर परीक्षाफल ही प्रभावित न कर जाय। स्पष्ट है कि जवाबदेही कष्टप्रद न हो, इसके लिए अध्यापक रास्ता निकाल ही लेगें। जवाबदेही पर पश्चात् तथा दृढ़ता से ध्यान देने पर क्या अध्यापक की सृजनात्मकता तथा स्वतन्त्र चिन्तन धारा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ? अध्यापक जवाबदेही सही ढग से निभाय, इसके लिए लेखक एक ही उपाय सोच पा रहा है कि कक्षा-कक्ष में अध्यापकों को मिलने वाले समय का बालकों के हित में सर्वाधिक अच्छा उपयोग करने के लिए तत्पर बनाना-यदि यह एक ही गुण अध्यापकों में विकसित हो गया तो अन्य कई दुर्गुण तो स्वतः ही समाप्त हो जायेगा। इसके लिए अधिकारियों की भूमिका को कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता-साथ ही सभी स्तरों की शिक्षक शिक्षा के विभिन्न कार्यक्रमों को भी इस दृष्टि से समृद्ध किये जाने की महत्ती आवश्यकता है।

—

डिग्री नौकरी—अलग-अलग ?

गिरधारी आज बड़ा प्रसन्नचित है। उसके हाथ से पान लेते हुए एलेग्जेण्डर ने उससे पूछ ही लिया कि क्या बात है चाचा ? आज बड़े खुश नजर आ रहे हो।

'भैया खुश होने की ही बात है-अब मैं भी अपने बेटे को कलेक्टर बनाऊँगा। कलेक्टर, गिरधारी कहने लगा—'नई शिक्षा नीति ने उद्धार कर दिया है हमारा। नौकरी के लिए कोई डिग्री विग्री या बड़े कॉलेज की शिक्षा दिक्षा और फिर उनमे भी पास होना जरूरी नही रहा। अब हर कोई बिना शिक्षा के बड़े पदों के हकदार होंगे।'

एलेग्जेण्डर— सो कैसे चाचा ?

गिरधारी— अरे तुम्हें पता नही है क्या भैया ? यह जो नई शिक्षा नीति आई है न, उसमे डिग्री और नौकरी को अलग कर दिया है—ऐसा सुना जा रहा है। अब किसी पद के लिये डिग्री नही चाहिए। वर्षों से कम शिक्षा पाने वालों के साथ भेदभाव होता रहा है—अब डिग्री की जरूरत ही नही रहेगी, बिना डिग्री के ऊंची नौकरी मिलेगी।

एलेग्जेण्डर— कलेक्टर तो तुम बना दोगे गिरधारी चाचा। पर यह बताओ कि यदि आपके बेटे को कलेक्टर की जगह कॉलेज का प्रिन्सिपल बना दे तो..........

गिरधारी— हाँ, बना सकते हैं, तो वहां भी काम कर लेगा।

एलेग्जेण्डर— वहां तो पढ़ाना है—कैसे करेगा काम ?

गिरधारी— काम तो उसके नीचे वाले सब मास्टर करेंगे, भैया।

एलेग्जेण्डर— अरे गिरधारी चाचा जरा सोचो—पर वे मास्टर भी तो डिग्री हीन ही होंगे न ! फिर कैसे पढ़ायेंगे, कैसे काम करेंगे, कैसे कॉलेज की गतिविधियां चलायेंगे ?

गिरधारी– तब तो कठिन ही लगता है । फिर कैसे करते हैं देश के जिम्मेदार लोग ऐसी बातें ? कुछ सुना है तुमने भी क्या ?

ऊपर के विवेचन से लगता है कि डिग्री तथा नौकरी की पृथकता से जनसाधारण में कैसे भ्रम का विकास हुआ है, इससे वे कैसे गुमराह हुए हैं ? लोग समझ रहे हैं कि अब हर कोई जिलाधीश या न्यायाधीश बन जायेंगे या इन्जिनीयर का काम सम्भाल लेंगे । कौन इन्हें समझाए कि बिना डिग्री के अब भी कलेक्टर या इन्जिनीयर या न्यायाधीश नहीं बन सकेंगे । मान लो बना भी दिये तो क्या वे काम का निष्पादन कर पायेंगे ? क्या वे त्वरित गति से निर्णय ले लेंगे ? क्या वे विश्वास के साथ काम निपटा देंगे ? क्या वे सहकर्मियों पर गौर दाब या प्रभाव रख सकेंगे ? क्या ये विषम परिस्थितियों में बिना धैर्य खोये विवेक सम्मत निर्णय ले लेंगे ? क्या ये अच्छे बुरे का निर्णय कर साथियों का नेतृत्व कर सकेंगे ? क्या वे साथियों का प्रभावी मार्गदर्शन कर सकेंगे ? ये कुछ प्रश्न हैं जिन पर शान्त मस्तिष्क से विचार किया जाना वाछनीय है । यदि बिना किसी शैक्षिक, सामाजिक पृष्ठ भूमि पर विचार किये व्यक्ति को उच्च पद पर बिठा दिया तो काम निष्पादन में विलम्ब नहीं होगा ? क्या बिना हिचक के निर्णय ले लेगा ? जो सदैव ही आदेश के लिए उच्चाधिकारियों की ओर देखता रहा है, वह अचानक पद प्राप्त करते ही सही निर्णय ले लेगा, नेतृत्व प्रदान करेगा, मार्गदर्शन करेगा, आदेश दे देगा, किसी अप्रिय घटना की आशंका के समय साहस और विश्वास के साथ अप्रत्याशित निर्णय ले लेगा, तदनुसार आदेश दे देगा, ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती और कार्य का स्तर भी गिरेगा ही, यह भी निश्चित है । व्यक्ति की स्वयं की हानि होगी तथा काम भी बिगड़ेगा और न वह समय पर ही निपटाया जा सकेगा ।

इसके दूसरी ओर व्यवहार में देखा जा रहा है कि स्वतन्त्रता के बाद जनसाधारण में उच्च शिक्षा की मांग कई गुनी बढ़ी है । साधारण चपरासी भी अपने बच्चों को स्नातक या एम. ए. तक शिक्षा दिलाना चाहता है । अभिभावकों में इस विकसित महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप 1947 में उपलब्ध 500 कॉलेजों तथा 27 विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ कर 1983 में क्रमशः 5250 तथा 140 हो गई है । सैकेण्डरी तथा हायर सैकेण्डरी स्कूलों की संख्या इसी अवधि में 7300 से 52300 हो गई है । उच्च शिक्षा

के अवसरों में वृद्धि के साथ साथ रोजगार के अवसरों में वृद्धि नही हुई है। परिणाम स्पष्ट है कि शिक्षितों मे बेकारी द्रोपदी के चीर की तरह बढ़ी है। और फिर शिक्षित व्यक्ति को अशिक्षित व्यक्ति के समान न तो गुमराह किया जा सकता है तथा न ही उनकी आवाज को महत्वहीन मान कर छोड़ा जा सकता है।

उच्च शिक्षा को एक दूसरे सन्दर्भ मे भी देखा जाना चाहिए। भारत में उच्च शिक्षा लगभग पौने पांच-पांच प्रतिशत है तथा ढेरों शिक्षित बेकार रोजगार की तलाश में इधर-उधर घूम रहे हैं, जबकि पाश्चात्य देशो में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति दशमलव में आते हैं। भारतीय व्यावहारिक अर्थशास्त्रीय अनुसंधान परिषद की एक शोध के अनुसार 1985–86 में उच्च शिक्षा संस्थानों में पढ रहे कुल विद्यार्थियों के आधे ही आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त थे। इस दृष्टि से यदि भारत मे अब भी उच्च शिक्षा का और विकास किया जाता है तो बेकारी की बढने वाली स्थिति की, एक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में, सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस समस्या की गम्भीरता तब और बढ़ जाती है जब उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश प्राप्त 60 प्रतिशत विद्यार्थी या इससे भी अधिक छात्र-छात्राएँ या तो अनुत्तीर्ण हो जाते हैं या तृतीय श्रेणी मे उत्तीर्ण होते हैं। इससे प्रति छात्र उच्च शिक्षा पर होने वाला व्यय कई गुना बढ जाता है। सामान्य विषयों के स्नातकों को सार्वजनिक क्षेत्र मे ही काम मिल सकता है पर यह क्षेत्र भी उनके 20 प्रतिशत भाग को ही नियोजित कर सकता है। इस प्रकार तीन-चौथाई से भी अधिक शिक्षित नवयुवक रोजगार पाने के लिए पूर्व से खड़े लोगो की पंक्ति मे जुड़ जाते हैं। शिक्षित बेकारो की इसी समस्या को हल करने के लिये या इस समस्या की गम्भीरता को कम करने के लिए—नई शिक्षा नीति के अनुसार डिग्री को नौकरी से पृथक करने का प्रस्ताव है जिससे डिग्री के प्रति लोगो की ललक कम हो, यद्यपि शिक्षा की चुनौती मसौदे में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि पूर्व से नियुक्त लोक सेवकों को गतिशीलता के साथ बेहतर पद एवं सेवा स्थितियां देने के लिए पत्राचार या दूरस्थ शिक्षा के माध्यम पर विचार करना होगा।

व्यवहार में देखा जाता है कि आज शिक्षा के बाद नौकरी प्राप्त करने के लिए डिग्री आशार्थी की योग्यता के रूप मे महत्वपूर्ण कसौटी मानी गई है। केम्ब्रिज तथा आक्सफोर्ड विश्व विद्यालय की डिग्रियां आज

भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। डिग्री प्राप्त करने का अर्थ होता है रोजगार या नौकरी के कई रास्ते खुलना। कई समाजों में आज भी डिग्री श्रेष्ठता का सूचक मानी जाती है। आज विश्व के हर देश में डिग्री उच्च शिक्षा संस्थानों द्वारा प्रदान की जाती है।

पेरिस विश्व-विद्यालय ने पहली बार बेचलर की डिग्री दी थी। आज संसार के भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों द्वारा दी जाने वाली डिग्रियों में काफी विविधता है। उदाहरण के लिए-भारत के ही बिहार के कुछ विश्व-विद्यालय कानून के विद्यार्थी को बी. एल. की डिग्री देते हैं जबकि देश के अन्य विश्व-विद्यालय एल. एल. बी. की डिग्री देते हैं। इसी भांति इलाहाबाद विश्व-विद्यालय शोध छात्र को डी० फिल० की डिग्री देता है, जबकि देश के अन्य विश्व-विद्यालय पी० एच० डी० की डिग्री देते हैं। कुछ पाश्चात्य शिक्षा संस्थान शिक्षा में उच्च डिप्लोमा देते हैं, जिसे भारत में कुछ विश्व-विद्यालयों ने एम. एड. के समकक्ष माना है। इसी कारण इनकी समतुल्यता स्थापित करने के लिए प्रयत्न भी किये जाते हैं। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार हुआ है, डिग्री की सामाजिक स्वीकार्यता व मान्यता में कमी आई है, और आज बेकारी, छिपी हुई बेकारी, अर्द्ध बेकारी की स्थिति में डिग्री के महत्व का ह्रास हुआ है। आज स्थिति यह है कि कभी श्रेष्ठता की प्रतीक कही जाने वाली डिग्री नवयुवकों में निराशा, कुण्ठा, हताशा, एवं कटुता का स्रोत बन गई है।

उन सेवाओं में डिग्री को नौकरी से अलग किया जायेगा जिनमें विश्व-विद्यालयों की डिग्री की अनिवार्य योग्यता के रूप में आवश्यकता नहीं होगी। यह लागू किये जाने से विशिष्ट नौकरियों के लिए चलाये जाने वाले पाठ्यक्रमों का पुनर्निर्धारण शुरु हो जायेगा और इससे उन उम्मीदवारों के प्रति अधिक न्याय होगा जो अन्यथा नौकरी के लिए पूरी तरह योग्य होते हुए भी स्नातक उम्मीदवारों को अनावश्यक तरजीह और प्राथमिकता दिये जाने के कारण नौकरी पाने से वंचित रह जाते हैं।

"भिन्न-भिन्न काम के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान, कौशल एवं रूझान की आवश्यकता होती है तथा किसी भी नौकरी या काम के लिए विश्व-विद्यालय की डिग्री के आधार पर किसी आशार्थी को चुनना या निरस्त करना उपयुक्त साधन नहीं है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण

कदम यह लिया जा सकता है कि उपलब्ध नौकरी या कार्य के अवसरों का सोच विचार कर विश्लेषण किया जाय। इससे यह लाभ होगा कि काम के निष्पादन हेतु या उसे निपटाने के लिए जिन कौशलों की आवश्यकता है, उन कौशलों से युक्त शिक्षा तथा ट्रेनिंग की व्यवस्था की जाय, इससे शिक्षा व्यवसायीकरण में मदद मिलेगी।"[1]

डिग्री को नौकरी से अलग करने के बाद इसके स्थान पर विभिन्न चरणों में राष्ट्रीय परीक्षण सेवा जैसे उपयुक्त तंत्र की स्थापना की जायेगी। इसका उद्देश्य निर्धारित नौकरियों के लिए उम्मीदवारों की उपयुक्तता निर्धारित करने के बाद स्वैच्छिक आधार पर परीक्षण का आयोजन करना है। इसका उद्देश्य देशव्यापी स्तर पर तुलनात्मक योग्यता के मानक या मानदण्डों के निर्धारण के लिए मार्ग प्रशस्त करना भी है। ऐसे परीक्षणों का मुख्य उद्देश्य लोगों को चाहे उनके पास औपचारिक डिग्रियां हैं या नहीं, यह दिखाने का अवसर प्रदान करता है।

साधारणतया नागरिकों के पास वे सारे विभिन्न काम करने की क्षमता, योग्यता तथा कुशलता है पर वे काम व्यवहार मे परम्परागत रूप से स्नातकों को ही उपलब्ध होते रहे हैं। जो संस्थान भर्ती के लिए अपने यहां परीक्षाएँ आयोजित करते हैं, ठोक मे ठोक बजाकर नौकरी देती हैं, उन्हें औपचारिक डिग्री की आग्रह नही करना चाहिए। ऐसा परीक्षण पहले से नौकरी पर लगे लोगों को पदोन्नति पाने मे भी सहायक हो सकता है। संक्षेप में यह स्वैच्छिक आधार पर राष्ट्र व्यापी परीक्षणों का आयोजन करने के लिए गुणवत्ता नियन्त्रण की प्रक्रिया है ताकि योग्यता, दक्षता एव कुशलता के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मानदण्डों का विकास हो सके। इस प्रक्रिया में स्वतन्त्र परीक्षण भी आयोजित किये जा सकते हैं। "इससे नवयुवकों में स्वतः ही डिग्री पाने की ललक कम होगी जिसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा संस्थान मे प्रवेश के लिये दबाव भी कम होगा, प्रवेश के लिए भीड़ कम उमड़ेगी। इन संकेतो पर काम करने के लिए आरम्भ मे कार्मिक विभाग में एक प्रकोष्ठ बनाया जा सकता है जो कार्यों का पता लगाए तथा कर्मचारियों की भर्ती का समाकलन करे।"[2]

---

1. प्रोग्राम आफ एक्सन, मिनिस्ट्री ऑफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेण्ट (शिक्षा विभाग) भारत सरकार नई दिल्ली : प्रबन्धक, टेक्स्ट बुक प्रेस, 1986. पृष्ठ 77.
2. वही. पृष्ठ 78

व्यवहार में डिग्री को नौकरी से पृथक करना जितना सरल तथा आसान माना जा रहा है, वास्तव में उतना है नहीं, स्थिति उल्टी ही है । इस तथ्य पर शान्त मस्तिष्क से लाभ-हानि की दृष्टि से विचार करना होगा । डिग्री को नौकरी से पृथक करने में सैद्धान्तिक कमियों के साथ-साथ व्यावहारिक कठिनाइयां भी हैं । इस विषय के स्वरूप एवं सीमा पर विस्तृत विचार मंथन की आवश्यकता है, बिना पूर्व तैयारी के कई कठिनाइयों को स्वयं ही में आमन्त्रित किया जा सकता है ।

सेवाओं के तीन वर्ग माने जाते हैं—उच्च माध्यम तथा निम्न । काफी समय से यह आवाज उठती रही है कि निम्न वर्ग की सेवाओं मे कर्मचारियों की भर्ती के लिए किसी भी प्रकार की योग्यता या डिग्री या प्रमाणपत्र की आवश्यकता न रहे । उदाहरण के लिए पत्रों के आवक-जावक विभाग मे एक कर्मचारी को लिफाफों पर पता लिखना है । यदि इस कार्य के लिए आशार्थी को साधारण लिपि का ज्ञान है जिससे की वह पते लिख सके तो उसके हायर सैकेण्डरी परीक्षा पास होने या स्नातक होने पर आग्रह क्यों किया जाय ? साधरण शिक्षा से उनका कार्य हो सकता है तो डिग्री की आवश्यकता क्यों ? इसी भांति यदि किसी बैंक मे रुपयों के लेन-देन के लिये कर्मचारी की आवश्यकता है तो साधारण गणित जानने एव जोड़ बाकी कर सकने वाले को भर्ती किया जा सकता है जो रुपयों को गिन कर दे या ले सकें । अब यदि वह स्नातक नहीं है तो क्या हानि हो रही है ? बिना हायर सैकेण्डरी परीक्षा पास व्यक्ति बैंक के इस कार्य को कर सकता है तो इस कार्य के लिए भर्ती किये जाने के लिए स्नातक या हायर सैकेण्डरी परीक्षा पास आशार्थी मांगना बेमानी बात है । इसी भांति मध्यम वर्ग की कुछ बिचली सेवाओ के लिए भी शैक्षिक योग्यता की छूट दी जा सकती है और यह आशा की जानी चाहिए कि इससे सेवाओं से जुड़े निष्पादित कार्य के स्तर में कोई गिरावट नहीं आयेगी ।

डिग्री-नौकरी : पृथक-पृथक के पक्ष में तर्क

कुछ चुने हुए क्षेत्रों में डिग्री को नौकरी से अलग करने के लिए कदम लिये जाने चाहिए । ऐसी नौकरियां जिनमें डिग्री की आवश्यकता नहीं है तथा डिग्री वाले उपलब्ध हों तो उन्हें प्राथमिकता नहीं दी जाय । उदाहरण के लिए चपरासी तथा क्लर्क के लिए यदि साक्षर तथा मेट्रिक

पास आशार्थी चाहिए तो इन पदों पर क्रमशः मेट्रिक तथा स्नातकों को नियुक्तियां नहीं दी जाय। अर्थ यह है कि उच्च शैक्षिक योग्यता को श्रेष्ठ न माना जाय। अपरोक्ष रूप में इसका आशय यही है कि डिग्री को अनावश्यक रूप से महत्व नहीं दिया जाय।

डॉ० एम० एस० गोरे के अनुसार डिग्री को नौकरी से अलग करने से विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए निरुद्देश्य आने वाली भीड़ का दबाव कम होगा, इससे शिक्षा का, काम भी स्तर सुधारा जा सकेगा, क्योंकि काम करने के लिए डिग्री की नहीं, बल्कि काम से सम्बन्धित वांछित रुचि, कौशल एवं रुझान की जरूरत होती है। वे आगे कहते है कि इससे एक लाभ और होगा और वह यह है कि विश्व-विद्यालय में सही रुचि तथा ज्ञान प्राप्ति की तीव्र भूख और इच्छा वाले विद्यार्थियों को ही प्रवेश दिया जा सकेगा जिससे विश्व-विद्यालयों की अन्य कई समस्याएं दूर की जा सकेंगी।

कार्यालय संचालन से जुड़े लोगों को बजाय डिग्री प्राप्त करने के सार्वजनिक सम्बन्धो, टंकण, आशुलिपि, आफिस मेकेनिज्म, सेक्रेटेरिएट प्रोसिजर आदि की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए। ऐसा ही विचार 1955 में कुलपतियों के सम्मेलन में प्रकट किया गया था।

एक बार संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष श्री किदवई का कहना था कि हाई स्कूल के बाद सामान्य विषयों में स्नातक बनने के लिए 4 से 6 वर्ष के समय की जरूरत पड़ती है तथा उनमें किसी प्रकार की विशिष्टता नहीं होती। इसलिये अच्छा यह होगा कि हाई स्कूल के बाद बालक की रुझान जानकर 4-6 वर्ष तक विशिष्ट ज्ञान और कौशल की शिक्षा दी जाय जिससे उसे कौशल और अनुभव भी प्राप्त हो सके। डिग्री को नौकरी से अलग करने की योजना उन सेवाओं में शुरू की जायेगी जिनमें विश्व-विद्यालय की डिग्री आवश्यक नहीं होगी। इस योजना को लागू करने से विशेष कार्यों में अपेक्षित कुशलताओं पर आधारित नये पाठ्यक्रम बनने लगेंगे और इससे उन आशार्थियों के साथ अधिक न्याय हो सकेगा जिनके पास किसी विशेष काम को करने की कुशलता एवं क्षमता तो है लेकिन उन्हें यह काम इसलिए नहीं मिल सकता क्योंकि उनके लिए स्नातक आशार्थियों को अनावश्यक रूप से तरजीह दी जाती है। पर इससे व्यावहारिक व शैक्षिक

समस्यायें था सकती हैं—जो समय पर उपचार भी चाहेंगी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्वर्गीय श्री लक्ष्मी कान्त झा ने कहा था कि नौकरी के इच्छुक आशार्थियों का चयन हायर सेकेण्डरी परीक्षा पास करने के बाद ही कर लिया जाय तथा आशार्थियों द्वारा चाहे गये काम की दृष्टि से विशिष्ठ प्रकृति की शिक्षा तथा उससे जुड़ा उपयोगी प्रशिक्षण दिया जाय। चिकित्सा, इन्जिनीयरी, रक्षा, विधि, के क्षेत्र में ऐसा तत्काल किया जा सकता है। उन्होंने इस समस्या को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा कि इससे विश्वविद्यालयों में प्रवेश का दबाव कम हो जायेगा। शेष विद्यार्थियों के लिए वे शिक्षा को अधिक अर्थपूर्ण तथा गहन बना सकेंगे।

श्री आर० पी० मिश्र के अनुसार यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि नवाचार, नेतृत्व, उच्च बौद्धिक क्षमता, त्वरित निर्णय, प्रत्युत्पन्न मति की जिन पदों के लिए आवश्यकता है वहां डिग्री की अनिवार्यता बनी रहेगी। विशिष्ठ व्यावसायिक क्षेत्रों जैसे इन्जिनीयरी, चिकित्सा, कानून, शिक्षा आदि में इस प्रस्ताव को लागू नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मानविकी, सामाजिक विज्ञान और शुद्ध या प्राकृतिक विज्ञान आदि में, जहाँ विशेषज्ञों की सेवाओं की आवश्यकता होती है, अकादमिक अहर्ताओं की आवश्यकता बनी रहेगी।

डिग्री-नौकरी : पृथक-पृथक के विपक्ष में तर्क

बुनियादी शिक्षा, सीखो कमाओ, कार्यानुभव आदि प्रयोगों के फल हमारे सामने है। आशा की गई थी कि 50 प्रतिशत छात्र स्कूल शिक्षा के बाद रोजगार में चले जायेंगे तथा शेष 50 प्रतिशत छात्र ही उच्च शिक्षा प्राप्त करेंगे। पर यह आशा पूरी नहीं हुई-हाथ से काम करना कोई नहीं चाहता। हायर सेकेण्डरी स्कूल छोड़ने वाले आधे छात्रों के लिए भी काम या अपना रोजगार कहाँ हैं? इसलिए डिग्री को नौकरी से अलग करने के विपक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि स्कूल की शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी को काम नहीं मिला तो विश्वविद्यालय उसे कुछ समय तो व्यस्त रखेगा।

यह भी विचार सामने आया कि डिग्री को नौकरी से अलग करने के विचार का धुआंधार या युद्ध स्तर पर प्रचार किया गया या इस प्रकार का वातावरण तैयार किया गया तो उच्च शिक्षा के प्रति जनसाधारण की

इच्छा लुप्त हो जायेगी या मात्रा में कमी आयेगी । शिक्षित लोगों में यह विचार विकसित हो सकता है कि आने वाले समय में डिग्री का कोई महत्व नही रहेगा । इस प्रकार प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों का सेवाओं से समाज वंचित हो जायेगा तथा समाज के हित में उनका वांछित उपयोग नही होगा । यह भी सम्भावना है कि डिग्री को नौकरी से अलग करने के स्थान पर डिग्री का अवमूल्यांकन न हो जाय । यहां भी इस दृष्टि से सतर्कता वर्ती जानी अत्यन्त आवश्यक है ।

कटु आलोचक आरम्भ में गिरधारी के उदाहरण को प्रस्तुत करेंगे तथा वर्तमान स्थितियों मे इसे अप्रासंगिक तथा निरर्थक बतायेंगे । ऐसा कहने के लिए उनके पास पर्याप्त आधार व तर्क होंगे । सरकार एक तरफ खुले विश्व-विद्यालय तथा पत्राचार पाठ्यक्रम आरम्भ कर रही है तथा कर्मचारियों को सतत अध्ययन करने के लिए प्रेरित कर रही है तथा दूसरी ओर डिग्री का महत्व कम करना चाहती है, विश्वविद्यालयों में बढ़ती हुई भीड़ के नाम पर आधे स्कूली छात्रों को रोजगार में भेजना चाहती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक डिग्री, नौकरी, शिक्षा, उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा आदि के सम्बन्ध मे और मुख्यतः इनके आपसी सम्बन्धों मे भी नीति स्पष्ट नही हो जाती, जनसाधारण अनिश्चिय की स्थिति मे ही रहेगा । जब तक इस क्षेत्र मे योजनानुसार पूर्व प्रयोग नही कर लिया जाता, विचार की व्यावहारिकता जानने के लिये तत्परता नही वर्ती जाती, विचार का कोई महत्व नही रह जाता है ।

निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से तथा पक्ष-विपक्ष के तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि डिग्री को नौकरी से अलग करना आसान कार्य नही है । ऐसा करना न तो सम्भव है तथा न ही अपेक्षित ही तथा वर्तमान परिस्थितियों में न व्यावहारिक ही है पर विचार खुल कर बहस करने की जरूरत है । डिग्री को नौकरी से अलग करने के लिए राज्यों के विभागो तथा राज्यो के लोक सेवा आयोगों को अपेक्षित योग्यता तथा कौशलों पर विचार-विमर्श कर निश्चय करना होगा । विभिन्न पदों के लिए चयन के बाद अभिरुचि तथा क्षमता की दृष्टि से सेवा पूर्व प्रशिक्षण शुरू किये जाने चाहिए । इसके लिए सम्भव है, कई नई संस्थाओं की स्थापना करनी

होगी—इसी सन्दर्भ में राष्ट्रीय परीक्षण सेवा संस्थान की स्थापना भी विचाराधीन है।

समस्या की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए डिग्री को नौकरी से अलग करने का कार्य एकाएक लागू नहीं किया जाय वरन् इस कार्यक्रम को विभिन्न चरणों में समय का अन्तराल देकर किया जाय, इस सम्बन्ध में शीघ्रता मे लिया गया निर्णय समस्या को सुलझाने की अपेक्षा और उलझा भी सकता है। क्योंकि यह छोटी मोटी या आसान या महत्वहीन समस्या नहीं है। विश्व-विद्यालय इस बात को सहर्ष स्वीकार कर रहे हैं, इसमें उनकी सुविधा निहित है कि उन्हें ज्ञान की उत्कट रुचि एवं सीखने की जिज्ञासा वृत्ति वाले चयित छात्र प्रवेश के लिए मिलेंगे जिनसे उनकी अन्य कई समस्यायें समाप्त हो जायेंगी।

माता-पिताओं का एक वर्ग यह मान सकता है कि सामाजिक जीवन में डिग्री का महत्व स्टेट्स सिम्बल या प्रतिष्ठा या सम्मान के रूप में बना रहेगा तथा डिग्री को नौकरी से अलग न करके उसे कुछ सीमा तक महत्व अवश्य दिया ही जाना चाहिए। माता-पिताओं का एक अन्य वर्ग इस राय की भी हो सकता है कि उन्हें डिग्री से जुड़े महत्व से कोई मतलब नहीं है पर उनकी संरक्षित सन्तान अपने पैरों पर खड़ी हो सकें; इतनी आशा तो वे करेंगे ही, न केवल इतना ही वरन् वे अवश्य ही यह भी चाहेंगे कि यदि उनके संरक्षितों को उच्च शिक्षा मे प्रवेश नहीं दिया जाता है तो अन्य विकल्प तत्काल उपलब्ध हों। नौकरियों में जा सकने वालों की संख्या ज्ञात कर उनके लिए व्यावसायिक शिक्षा की निश्चित रूप से व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि माता-पिता यह अनुभव करते हैं कि नई संस्थाये श्रेष्ठ नहीं हैं या उनका स्तर निम्न है या वे माता-पिताओं की अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर पायेंगी तो स्पष्ट है कि माता-पिता अपनी सन्तान को इन संस्थाओं में नहीं भेजेंगे। इसीलिए विश्वविद्यालय से बाहर रोजगारोन्मुखी शिक्षा तथा व्यवसाय के लिए आवश्यक कौशल का प्रशिक्षण देने की सुविचारित योजना तैयार की जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो निश्चित रूप से परम्परागत विश्वविद्यालयों पर विद्यार्थियों को प्रवेश देने के लिए अधिक भार बना ही रहेगा।

डिग्री को नौकरी से अलग करने के सम्बन्ध में यूनेस्को ने 1971 मे 'लर्निंग टू वी' शीर्षक वाले प्रतिवेदन में पूरे महत्व के साथ बताया है कि

छात्रों की बढ़ती हुई संख्या तथा विविधता को देखते हुए उनके लिए स्कूली शिक्षा के बाद भी संस्थाओं में विविधता लाने की प्रथम स्थान पर नितान्त आवश्यकता है । इसके लिए शिक्षा संस्थाओं में बुनियादी परिवर्तन करने होंगे । स्कूली शिक्षा के बाद विभिन्न पदों के लिए चयनित आशार्थियों को निष्पादित किये जाने वाले काम के लिये अपेक्षित गुणों तथा कौशलों की दृष्टि से लम्बे समय की शिक्षा व ट्रेनिंग की व्यवस्था की जायेगी । इससे न केवल पदों के लिए उपयुक्त शिक्षा प्राप्त आशार्थी ही उपलब्ध होंगे वरन् उच्च शिक्षा संस्थानों को उद्देश्यहीन विद्यार्थियों को प्रवेश देने के दबाव से भी मुक्ति मिलेगी । इस भांति कुछ सीमा तक डिग्री अपना महत्व खोने से भी बच सकेगी ।

वैचारिक प्रदूषण

आज चारों ओर दो बातों पर चर्चा की जा रही है। प्रथम है नैतिक शिक्षा या मानव मूल्यों की प्रतिस्थापना तथा दूसरी है पर्यावरण शुद्धि। दोनों ही समस्याओं की अपनी-अपनी गम्भीरता एवं अपना-अपना महत्व है। देखने में दोनों समस्यायें पृथक-पृथक लगती है पर जरा गम्भीर हो कर, शान्त चित्त से सोचें तो समस्या एक ही लगती है। मानव मूल्यों की स्थापना पर्यावरण शुद्धि समस्या तो है पर इस पर मानव मूल्यों की स्थापना के साधन के रूप मे भी विचार किया जा सकता है। पर्यावरण शुद्धि या संरक्षण स्वयं अपने आप में कोई साध्य नही है। साध्य तो मानव कल्याण या मानव मूल्यों की स्थापना ही है तथा पर्यावरण शुद्धि या पर्यावरण संरक्षण तो उसका इस साध्य की प्राप्ति, का साधन मात्र है।

आज का मानव जीवन सदियों के प्रयत्नों से सुधरा हुआ रूप है। मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य, समझदार, तथा सुसंकृत होता गया। वैसे-वैसे उसने अपने जीवन को कृत्रिमता, हेय बधनो मे जकड लिया। जब वह असभ्य या जगली था, धोखा देना या झूठ बोलना नही सीखा था, तब तक वह अपने साथियों का हित सोचा करता था तथा प्रकृति के साथ ताल-मेल या तारतम्य बनाये रखता था। मनुष्य ने अपनी सुख सुविधा के लिए रेल, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, अणुशक्ति, चिकित्सा आदि का विकास किया परन्तु इन सभी के उपयोग का सूत्र असंतुलित कर प्रकृति के सुन्दर वातावरण को प्रदूषित कर दिया तथा मानव को तरह-तरह के रोगों के जाल में फंसा लिया—एक प्रकार से वह अपने द्वारा बनाये जाले मे स्वयं ही फंस गया।

कारखाने में फालतू बची वस्तुओं को नदी या सागर में गिराया जाता है, इससे जल प्रदूषित हो जाता है, इससे मछलियों का जीवन खतरे मे पड़ जाता है। कल-कारखानें व फैक्ट्रियो के विषाक्त एवं कीटाणु युक्त जल से नदी, सागर तथा तालाबों में मछलियां आदि मर जाती हैं। न केवल इतना ही बल्कि नदियों का पानी मानव के लिए जहर बन जाता है। अनेक वैज्ञा-

निकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि मथुरा की रिफाइनरी से निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थों से जमुना नदी का पानी तो निश्चित रूप से दूषित होगा और साथ ही विश्व प्रसिद्ध स्मारक ताजमहल की सुन्दरता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की पूरी-पूरी सम्भावना है जिससे उसका सौन्दर्य नष्ट हो सकता है।

यह मानना चाहिए कि जितना खतरा बाह्य जगत को है उतना ही खतरा अन्तर जगत या वैचारिक धरातल या मनोजगत को भी है। अतः मानव मात्र को सजग रहना चाहिए कि प्रदूषण के बाह्य प्रभावों से अपनी वैचारिक पृष्ठ-भूमि को कैसे बचाया जाय, यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि साक्षरता का स्तर जितना ऊँचा और उसका प्रतिशत जितना अधिक बढ़ा है, उतना ही अधिक मानव मूल्यों का ह्रास हुआ है। ह्रास इस अर्थ में कि अधिक पढ़ा-लिखा व्यक्ति उतने ही अधिक सुधरे हुए तरीकों से, उतनी ही अधिक पेचिदगियों से, उतनी ही बारीकी से धोखा देना सीख गया है, झूँठ बोलना सीख गया है, नैतिक अनैतिक तरीके से धन बटोरने के तरीके सीख गया है। प्राण रक्षक दवाइयां, घटिया खाद्यान्न तथा धनिकों के औद्योगिक संस्थानों पर रोज के मारे जाने वाले छापे इसका प्रमाण हैं। इन कामों के लिये मानव अपना व्यवहार इस तरह बना रहा है कि दूसरों को बुरा न लगें या दूसरों को बुरा लगने पर आत्मकेन्द्रित होने का बहाना बना कर बच जाय।

वैचारिक प्रदूषण के प्रसार में या स्पष्ट कहें तो मानव मूल्यों के ह्रास में हिंसात्मक एवं घृणावर्द्धक चलचित्र तथा श्रव्य दृश्य सामग्री का भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है। एक बार चण्डीगढ़ का एक समाचार पढ़ा था कि उच्च अधिकारियों के बच्चों ने मात्र आनन्द लेने के लिए सिविल लाइन्स में शौचालयों के मार्ग से घरों में प्रवेश कर विभिन्न वस्तुओं को नुकसान पहुँचाया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि बच्चों ने ये कार्य सिनेमा देखकर सीखे थे। इन फिल्मों में हिंसा, मार-धाड़, बलात्कार, खून, चोरी-डकैती, हत्या आदि के कुकृत्य प्रचुरता से दिखाये जाते हैं। इस प्रकार के कुकृत्यों की हिंसात्मक फिल्मों से आज भी यदा कदा तांगे वाले या इसी प्रकार के अन्य लोग यात्रियों को या तो एकान्त में ले जाकर चाकू छुरे की नोक पर लूटते हैं या उनके साथ कुकृत्य करते हैं। यह सब घटिया फिल्मों का ही प्रभाव है।

पिछले दिनों जयपुर में विद्यालयों तथा धार्मिक स्थानों के बाहर महिलाओं के अर्द्ध नग्न चित्रों को देखकर उनके विरोध में जनसाधारण ने प्रचार किया था। ये विज्ञापन के साधन के रूप में काम में लिये जा रहे थे। इनसे विज्ञापन दाताओं को लाभ हो रहा है या नहीं यह दूसरी बात है। पर इससे सामान्य जनता के मन में पाशविक या कुत्सित प्रवृतियों का विकास सहज है। आँखों के सामने एक ही चित्र की बार-बार आवृति होने से देर सवेर प्रभाव तो पड़ता ही है।

यह उपचार हीन कार्य हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। सरकार को कानून व्यवस्था को जरा कठोरता से व्यवहार कर इसका निवारण किया जा सकता है। ऐसा करने से जनता का एक छोटा लाभान्वित होने वाला वर्ग अप्रसन्न हो सकता है पर समाज के बड़े हित के सामने छोटे हित के त्याग के लिए तत्पर रहना चाहिए।

यह वैचारिक प्रदूषण का ही फल है कि आज चारों ओर अवांछनीय गतिविधियाँ ही दृष्टिगोचर हो रही हैं। चिकित्सालयों में रोगियों की समय पर देख-भाल नहीं की जाती है, प्राणलेवा घटिया दवाइयां बनाई जाती है, स्वस्थ रहने के लिये मच्छरों का ही नाश किया जा रहा है, छात्रावासों में नींद लेने की गोलियां लेकर छात्र-छात्रायें तनाव से मुक्ति पाते हैं, खाद्यान्न की उपज बढ़ाने के लिए जंगल काट कर खेती की जा रही है फिर उन्हें भले ही मवेशियों के लिए चरागाह या जंगली हिंसक जानवरों के चरने विचरने के लिए जगह न मिले, सब्जियों के पौधों पर चिड़िया न बैठें, इसके लिए उन पौधों पर जहरीली दवाइयां छिड़की जाती हैं फिर भले ही उन दवाओं से चिड़िया मर जाय, बनिया पीसी मिर्च में लकड़ी का बुरादा या हल्दी में ईंट पिसवा कर बेचता है, उन्हें इन चीजों के खाने वालों के स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नहीं है। आये दिन शोध ग्रन्थों में पूर्व के शोध ग्रन्थों की नकलों के समाचार पढ़े जाते हैं। शोध छात्रों को एक या अन्य कारणों से परेशान किया जाता है या छात्राओं का अपहरण किया जाता है। अनुतीर्ण छात्राओं को स्वर्ण पदक दिलवाये जाते है। किसी-किसी विशिष्ठ पाठ्यक्रम में प्रवेश पाने के लिये अनुसूचित जातियां अनुसूचित जनजाति सदस्य करार करवाये जाते हैं। शोध छात्रों से मिठाईयां, साड़ियां, फर्नीचर तथा अन्य कीमती उपहार लेना, या अपने बच्चों को उनके साथ सिनेमा भेजना क्या विकृत मस्तिष्क के द्योतक नहीं हैं? किराया तय कर तांगे से चलने पर गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर तांगे

वाला लड़-झगड़कर अधिक पैसे ले लेता है, यह सब आखिर क्या हो रहा है। क्या इसे वैचारिक या सामाजिक प्रदूषण नहीं कहा जाय। वस्तुतः आज मानव मूल्यों की खोज गुलर का फूल सिद्ध हो रही है।

इस प्रकार प्रदूषण भक्तों में तथाकथित पढ़े-लिखे, सम्पन्न, ठेकेदार, विज्ञानवेत्ता, प्रकाशक, राजनयिक, उद्योगपति तथा बुद्धि जीवी लोग पाये जाते हैं। वे तन, मन, धन से समर्पित होकर सश्रद्धा उपासना करते है और इच्छा करते हैं कि चद दिनो में ही श्री सम्पन्न होकर दानवीर, समाज सेवी तथा अति विशिष्ट लोक हितैषी बन जाय। यह बात अलग है कि उनकी सम्पन्नता आस-पास के सम्पर्क में आने वाले हजारों लोगो को किसी न किसी रूप में रोगी, पंगु, पागल एव मृत समान बना देती है। वहाँ के जलवायु में, वायु मण्डल मे अन्तर आ जाता है, प्रकृति विकृत हो जाती है, वनस्पति वर्ण-संकर हो जाती है। कई बार पर्यावरण रक्षा की बात की जाती है, प्रदूषण रोकने के प्रयास भी सुनते है। पर लगता है यह सब दीखावा है और प्रदूषण दैत्य का भाई है जो विश्व में फैल जायेगा।

व्यवहार मे देखने पर स्पष्ट होता कि आज राष्ट्र के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक पर्यावरण तथा सर्व शक्तिमान द्वारा प्रदत्त उपहारों में अर्थात प्राकृतिक देनो मे सामन्जस्य नहीं है। एक तरफ खाद्यान्न वृद्धि के लिए, जैसा कि ऊपर बताया गया है, चरागाह जोती जा रही है।

दूसरी तरफ मवेशियों के लिए घास कम हो रहा है, सिंचाई के लिए नदियों को बाध कर जगह-जगह पानी रोका जा रहा है तथा दूसरी ओर लोगो को पीने का पानी ही उपलब्ध नही हो रहा है, प्रकृति का अपना सौन्दर्य है। इस प्रकार जीवन में समरसता (हांरमनी) समाप्त होती जा रही है। इस प्रकार असौन्दर्यानुभूति का विचार लुप्त होता जा रहा है। वास्तविकता यह है कि आज की सभ्यता या जीवन प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग पर ही निर्भर हो गया है। आज प्रकृति का उपयोग न कर उसका शोषण किया जा रहा है। यही कारण है कि प्राकृतिक शक्तियां मात्रा में कम होती जा रही है—उनकी गम्भीरता भी कम होती जा रही है तथा यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि प्राकृतिक शक्तिया प्रदूषित हो रही है।

एक उदाहरण देखिए—बम्बई के पास समुद्री जल के निरन्तर प्रदूषित होने के कारण मछलियां आदि जल के जीवों में मोनोमोटिया, एक विशेष प्रकार का रोग फैल रहा है। बम्बई से आगे पूने के रास्ते पर एक स्थान पर निरन्तर प्रयास करके मच्छर समाप्त कर दिये, इससे आदमियों का मच्छरों के आतंक से छुटकारा पाना तो समझ में आता है, पर, इससे दिक्कतें दुगनी-चौगुनी होने लगी तथा डाक्टरों ने पाया कि आदमियों की मच्छरों से प्रतिरोध करने की शक्ति (रेजिस्टेन्स पावर) क्षीण हो गई। अब वे छोटी-छोटी बीमारियों से पीड़ित रहने लगे। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति के नियमों के विपरीत नहीं चलना चाहिए। मच्छर-मच्छर की जगह रहेंगे तथा अपना काम करेंगे। आखिर मच्छर भी तो किसी के लिए उपयोगी होंगे ही। कई बार कहा जाता है कि रासायनिक खाद प्रयोग करके गोभी या मटर की अधिक मात्रा में फसल प्राप्त की जाने लगी है। पर यह गोभी या मटर स्वादहीन भी है, ऐसी भी कई बार उपभोक्ता शिकायत करते हैं। लगता है प्रकृति के उपहारों का उपयोग करने का सूत्र गड़बड़ा गया है।

प्रकृति की विपुल सम्पदा के आगे मनुष्य रंक के समान है पर स्थिति यह है कि वह मालिक बन कर इसके दोहन में, बिना विश्राम किये, लगा हुआ है और यह दोहन भी प्रार्थना के साथ विनम्रतापूर्वक न होकर बलात्कार के रूप में हो रहा है। मनुष्य की प्रकृति को रंक बना देने की इस इच्छा के फलस्वरूप उसकी भौतिक सम्पत्ति तो बढ़ रही है, मनुष्य का उस पर अधिकार भी हो रहा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की वैचारिक दरिद्रता या आन्तरिक धरातल दुराग्रह की सीमा छूने लगी है। सम्भवतया: मनुष्य को यह ज्ञान नहीं है कि वह प्रकृति के साथ अत्याचार करके स्वयं ही दण्डित हो रहा है। मनुष्य एक ओर तो बाह्य पर्यावरण को जिसमें जीव-जन्तु, जल, वायु, पेड़, पौधे, पृथ्वी, नदी, तालाब, कुएँ, वन, पर्वत, और आकाश आदि सम्मिलित हैं प्रदूषित कर रहा है, अपने चारों ओर के संसार को विषाक्त कर रहा है तथा इसके विपरीत दूसरी ओर अपने मनोजगत रूपी आन्तरिक पर्यावरण के पूर्ण सर्वनाश के बीज बो रहा है। प्रकृति तथा पशु-पक्षी का बिना मनुष्य की सहायता के भी अस्तित्व रहता आया है। पर यदि मनुष्य उनकी सुरक्षा करता है तो ऐसा करके मनुष्य स्वयं अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो रहा है तथा वह प्रकृति या पशु-पक्षी पर कृपा नहीं कर रहा है।

आन्तरिक पर्यावरण या मनोजगत या वैचारिक पृष्ठभूमि आज जितनी प्रदूषित हो गई है, सम्भवतया मानव जाति के विकास के इतिहास मे ऐसा पूर्व में कभी नहीं हुआ। मनुष्य-मनुष्य का शत्रु बन गया है, आज की ऐसी मूल्यहीन संस्कृति पूर्व मे शायद कभी नही रही, आज की जैसी व्यापक सवेदन हीनता का भूतकाल मे कभी सकेत नही मिलता है। यदि आज का पर्यावरण विषैला है, मूल्यहीन है, मानव कल्याण से परे है, तो संस्कृति भी उससे कैसे बची रह सकती है ? वह भी उससे प्रभावित तो होगी ही। आन्तरिक विचारधारा, मनोजगत या वैचारिक पृष्ठभूमि हमारे जीवन मूल्यों, नैतिक मानदण्ड तथा हमारे मानव धर्म के स्तम्भों पर टिकी हुई है। पर आज की स्थिति मे ये स्तम्भ चरमरा गये हैं, ढहने लगे हैं। "जीओ और जीने दो" की जगह ऐसा लगता है कि उसने दूसरों को मार कर, मैदान से हटा कर स्वयं अकेले ही जीने का निश्चय कर लिया है यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि मानव सभ्यता के विनाश का असली खतरा अन्तः जगत या वैचारिक प्रदूषण है। आज के प्रदूषण के लिए कुछ उत्तरदायी पक्ष हैं। जंगलों का अनियन्त्रित कटाव, कारखानों एवं फैक्टरियों के अनुपयोगी कचरे का मुक्त उत्सर्जन, मिलावट रोकने में शिथिलता, कीटनाशकों एवं रासायनिक खादों का खेतों में अंधाधुंध, प्रयोग कारखानों-मशीनों की अनवरत वृद्धि, जलवायु-पृथ्वी आकाश को विषाक्त करने वाले वातावरण की सृष्टि, सभ्यता-संस्कृति के नाम पर कर्णकटु चित्कार करने वाले साधन, कला तथा विनोद की आड मे रुचि तथा चेतना को विकृत करने वाले शृंगार एवं प्रसाधन युक्त नाच गान के उपक्रम आदि-आदि। प्रदूषण का फल है—समाज में विघटन, असुरक्षा तथा नरक के समान यातना भोगना और एक ही शब्द में कहे तो अपराध।

"डा॰ विवेकी राय ने कितनी पीडा के साथ सही लिखा है कि वनों को काट कर, आकाश को विषैली गैसों से भर कर, नदियों को सत्यनाशी कचरो से परिपूर्ण कर और उर्वर धरती में रासायनिक खाद व दवाओ का जहर मिला कर क्या मनुष्य अभूतपूर्व क्रूर हिंसक, आस्थाहीन, स्वार्थी, अहमकेन्द्रित असामाजिक और फिर इनके प्रभावो से तनावग्रस्त, खण्डित, भग्नाशय, उखड़ा, डावाडोल तथा पागल नही होता जा रहा है ?"

क्या इस मनोजगत को शुद्ध बनाये रखने का कोई तरीका है ? क्या

प्रकृति की गोद में लौटना होगा ? इसका उत्तर हाँ में देना होगा, कारण कि अन्य कोई रास्ता नही दीख रहा है । विज्ञान मनुष्य के वाह्य पर्यावरण को प्रभावित करता है, काबू में करता है । विज्ञान ने ही उसे प्रदूषित करने में पहल की है तो क्या वह उसे शुद्ध करने में पीछे रहेगा । नहीं, नहीं, उसे शुद्ध भी करेगा पर उसकी पहुँच वाह्य पर्यावरण तक ही है, वैचारिक पर्यावरण उसका क्षेत्र नही है । मनोजगत को, वैचारिक क्षेत्र को शुद्ध करने का कार्य धर्म का है, कर्तव्य का है । धर्म सुनकर आप आश्चर्य न कीजिये—यहाँ धर्म का सम्बन्ध शाश्वत कर्तव्यों से है मानव कल्याण कार्य धर्म ही वह तत्व है जो वैचारिक जगत को जीवन देने वाली ऊर्जा प्रदान करता है । धर्म के सार्वभौतिक शाश्वत लक्षण धृति, क्षमा दया, दान, स्नेह, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध ही ऊर्जा प्रदान करते हैं । यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त आधार है कि मनोजगत को वैचारिक पृष्ठभूमि को, आन्तरिक पर्यावरण को शुद्ध करने वाली ऊर्जाओं को पुष्ट करने से आदमी बाह्य पर्यावरण को अशुद्ध करने, प्रदूषित करने से अपना हाथ पीछे खींच लेगा, उसे प्रोत्साहन नही मिलेगा तथा पर्यावरण को अशुद्ध करने का प्रदूषित करने का साहस नही करेगा ।

ऊपर के इस विवेचन से स्पष्ट है कि हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं एक को फलने फूलने के लिए दूसरे की सहायता चाहिए । वन बने रहेंगे तो जंगली जानवर सुरक्षित रहेंगे और वर्षा होगी, वर्षा होगी तो नदियां भरी रहेंगी, नदियाँ भरी रहेगी तो मगर-कछुआ और मछलियाँ जीवित रहेंगी और मनुष्य को अतिरिक्त भोजन मिलेगा और अतिरिक्त पानी से खेतो में सिचाई होगी, सिचाई होने से खेतो में खाद्यान्नो की मात्रा बढ़ेगी, खाद्यान्नों की मात्रा बढ़ने पर मानव को आवश्यकतानुसार पौष्टिक आहार मिलेगा तथा आहार ही मानव को पहाड़ों की सैर करने की शक्ति देगा । मोटे रूप में जीवित रहने के लिए फलने-फुलने के लिए—हम सब को एक दूसरे की सहायता चाहिए । पहाड़, नदी, खलिहान, खेत, मैदान, पशु, पक्षी, आदि सभी प्रकृति के उपहार मानव जीवन को अधिक खुशहाल बनाते हैं । इसी को कहते हैं अन्तर्निर्भरता इस अन्तर्निर्भरता का सूत्र बिगड़ते ही, प्रकृति के विपरीत एक का दूसरे द्वारा अधिक उपयोग-शोषण करने पर तालमेल बिगड़ जाता है और मानव तथा प्रकृति में उत्पन्न विसंगतियाँ उनके लिए प्राण लेवा सिद्ध होती हैं । यही करण है कि आज मानव का समरसतापूर्ण

जीवन समाप्त हो गया सा लगता है। इन्हीं आधारों पर मानव को सजगता-पूर्वक सही दिशा में प्रयास करने होंगे।

प्रदूषण की समस्या के निवारणार्थ युद्ध-स्तर पर सजगतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न होने चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रतिवेदन के अनुसार रोग प्रारम्भ होने के पूर्व रोग के कारणों का उपचार करना कहीं अधिक अच्छा है, ये प्रयत्न कम खर्चीले भी होंगे, इससे धन बचेगा तथा मानव स्वास्थ्य की भी रक्षा हो सकेगी। इस निबन्ध को एक नवोदित कवि की रचना से समाप्त करना समीचीन लगता है—"आओ! मन की पावनता के साथ-साथ, तन को भी पुनीत बनायें। जल, वायु, मृदा को स्वच्छ बनाकर जीवन को सच्चा संगीत सुनाये।"

शैक्षिक अवसरों में समानता

(अ) शिक्षा में समान अवसर

समस्या एवं समाधान[1] :

स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व जैसे आदर्शों की प्राप्ति सदैव से ही मानव का स्वप्न रहा है। इनमें भी 'समानता' के लिए उसके अपेक्षाकृत अधिक प्रयास रहे हैं। यहां 'समानता' एवं 'अवसरों' की समानताओं पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

समानता के आदर्श से हमारा तात्पर्य है—मनुष्यों के साथ हमारा व्यवहार उनकी सुख सुविधाओं पर आधारित न हो वरन् ऐसी क्षमता ही हमारे व्यवहार का मानदण्ड हो जिसका विकास समान अवसरों की स्थिति में हो सके। समानता के आदर्श का सार तत्व है, प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता, क्षमता एवं शक्ति के अनुरूप उद्देश्य प्राप्त करने का अधिकारी होगा और इस हेतु उसे समान अवसर प्रदान किये जायेंगे।

अवसर सम्बन्धी समानता के कुछ पहलू

इससे पूर्व कि हम अवसर सम्बन्धी समानता की संकल्पना को कार्य रूप में परिणित करें इससे सम्बन्धित कुछ पहलुओं पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। प्रथम, किनके मध्य अवसर सम्बन्धी समानता हो ? निश्चय ही उनके मध्य जो समान रूप से इसके योग्य हों अथवा वे जो किसी अवसर का उपयोग करने में समान रूप में सक्षम हों। अतः व्यक्तियों की क्षमताओं के अनुसार उनका वर्गीकरण करना होगा। द्वितीय, हमें असमानता के अनुसार मुख्य स्रोतों के विषय में भी विचार करना होगा। ऐसा करना इसलिये आवश्यक हो जाता है, जिससे हम ऐसे व्यक्तियों की आपस में तुलना कर सकें, जो समान रूप में सक्षम तो हैं, किन्तु जिन्हें कुछ क्षेत्रों में समान अवसर प्राप्त नहीं हैं। यहा हम अपने को सौभाग्यपूर्ण स्थिति में पाते है, क्योंकि इस

---

1. इस भाग के विचारों में स्पष्टता लाने के लिए मुझे अपने अभिन्न-मित्र श्री हरगोविन्द जी गुप्ता के विचारों से सहायता मिली है, लेखक उनका आभारी है।

क्षेत्र का पिछला अनुसंधान यह बतलाता है कि असमानता के प्रमुख स्रोत सामाजिक वर्ग भी रहा है। अंत में, हमें मानव जीवन के लिए जो; अवसर अत्यावश्यक हैं उनकी प्रकृति को भी समझ लेना चाहिए। समान रूप मे सक्षम व्यक्तियों को क्या पुरस्कार प्रदान किये जायें ? आधुनिक औद्योगिक प्रधान समाज के सदस्यों को प्राप्त व्यक्तिगत सामाजिक पुरस्कारों का मुख्य प्रवेश द्वार उच्च शिक्षा ही रहा है। प्राचीनकाल में उच्च शिक्षा ही कई साधनों में से एक साधन था। किन्तु अब उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्ति, व्यक्तिगत साहस एवं शक्ति, परम्परागत व्यवसाय जैसे साधनों का स्थान उच्च शिक्षा अधिक से अधिक लेती जा रही है।

समानता के आदर्श का ऐतिहासिक अध्ययन

इस आदर्श का सबसे प्राचीन सुन्दर एवं स्पष्ट वर्णन हमें प्लेटो द्वारा लिखित "रिपब्लिक" में धातुओं की कथा (पेरेबल ऑफ मैटल्स) में मिलता है। प्लेटो के अनुसार लोगों को एक असत्य, एक फिनीशियन कथा, से जानबूझकर अवगत कराया जाय, जिसके अनुसार सारे मनुष्य उनके वयस्क होने तक पृथ्वी के गर्भ में पोषित किये गये हैं। इस आधार पर उनके देश की भूमि उनकी माँ है एवं देश के सारे नागरिक उनके भाई।

यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि प्लेटो द्वारा सुझाया गया यह हल अवसरों की समानता में आने वाली सबसे बड़ी बाधा का सर्वोत्तम एवं सुन्दर हल प्रतीत होता है। साथ ही राज्य के सारे नागरिकों में इस बात का विश्वास जमाना कि उनका पोषण पृथ्वी के गर्भ में हुआ है, बेहुदा लगता है, क्योंकि इससे धर्म, जाति, वंश एवं पारिवारिक संबंधों की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अलगाव के ये सारे साधन किसी भी समाज को अच्छा अथवा बुरा बनाने की दक्षता अवश्य रखते हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न करता है। इसी लिए प्लेटो ने इसे ही सच्ची समानता के लिए सबसे बड़ा खतरा माना था।

अवसरों की समानता के संबंध में हमारी संवैधानिक स्थिति

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं शैक्षिक अवसरों की समानता के हमारे अधिकार को सुरक्षित करने हेतु संविधान में कुछ सारगर्भित अनुच्छेद दिये हुए हैं। इस प्रसंग में कुछ अनुच्छेद उद्धरणीय हैं।

अनु० 15 (1) धर्म, जाति, वंश, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से; किसी एक के भी आधार पर राज्य किसी नागरिक के प्रति भेदभाव नहीं बरतेगा।

अनु० 6 (1) राज्य के किसी भी कार्यालय में नियुक्ति अथवा नियोजन संबंधी मामलों में सभी नागरिकों को समान रूप से अवसर प्रदान किये जायेंगे ।

(2) धर्म, जाति, वंश, लिंग जन्म स्थान, निवास स्थान, अथवा इनमें से किसी एक के भी आधार पर राजकीय कार्यालय में सेवा सम्बन्धी मामलों में किसी भी नागरिक के प्रति पक्षपात अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया जायेगा ।

अनु० 29 (2) राज्य द्वारा सहायता प्राप्त सभी प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं में किसी भी नागरिक को धर्म, वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर भी प्रवेश लेने से नहीं रोका जा सकेगा ।

अनु० 30 (1) धर्म अथवा भाषा पर आधारित किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी पसंद के अनुसार शैक्षिक संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार होगा ।

(2) शैक्षिक संस्थाओं को अनुदान देते समय राज्य किसी भी शैक्षिक संस्था के प्रति इस आधार पर भेद-भाव नहीं बरतेगा कि उसका संचालन अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा होता है ।

अनु० 46 राज्य समाज के कमजोर वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों एवं वर्गों के शैक्षिक हितों एवं आर्थिक को विशेष रूप से प्रोत्साहित करेगा तथा सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण में उनके हितों की रक्षा करेगा ।

राष्ट्रीय शिक्षा कमीशन : अवसरों की समानता पर इसके विचार

वास्तव में यह देखना अत्यन्त रुचिपूर्ण होगा कि कमीशन आंकड़े इकट्ठे करने में कहाँ तक वस्तुनिष्ठता दिखा पाया है । प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर नि:शुल्क शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों के माता-पिता द्वारा शिक्षा पर किये गये व्यय के बारे में इस कमीशन ने निस्सन्देह ही गहन एवं व्यापक अध्ययन किया है । पाठ्यपुस्तकों एवं नि:शुल्क शिक्षा से सबंधित कमीशन की सिफारिशें, वस्तुनिष्ठ आंकड़ों पर आधारित हैं । कमीशन का ऐसा अभिमत है कि शिक्षा में अवसरों की समानता का ध्येय उस समय तक पूरा नहीं होता जब तक किसी भी बच्चों के लिये सभी स्तरों

पर निःशुल्क शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो और जब तक कि पाठ्यपुस्तकों एवं स्टेशनरी की कीमतें कम नहीं की जाती। कमीशन ने आगामी दस वर्षों में सातवीं कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की सिफारिश की है। इससे आगे के दस वर्षों में दसवीं कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जा सके–ऐसी कोठारी कमीशन की आशा एवं सिफारिश है। उच्च स्तर पर गरीब एवं मेधावी छात्रों को छात्रवृत्तियों एवं ऋणों द्वारा पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। शिक्षा आयोग (1964-66) ने चाहा है कि हरेक स्कूल में प्रतिभाशाली छात्रों को छांटने का कार्यक्रम होना चाहिये और इन छात्रों के लिए ऐसे विशेष संवर्धन कार्यक्रम होने चाहिये जो उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप हों और उनकी वृद्धि में योग दे सकें।[1] आदिम जातियों, महिलाओं, विकलांगों, वाधितों, छात्रवृत्तियों तथा बालिकाओं पर भी आयोग ने सांगोपाग रूप से सिफारिशें करते हुए लिखा है कि—

(1) परिवहन सुविधायें कल्पनापूर्वक तरीके से व्यवस्थित करनी चाहिए, ताकि छात्रावासों और छात्रवृत्तियों पर खर्च घटाया जा सके। उदाहरण के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे स्कूल खोले गये हैं जो दूर से आने वाले छात्रों को साईकिल देते हैं।

(2) दिवस अध्ययन केन्द्र तथा वासगृह (ऐसे स्थान जहाँ छात्र दिन में ही नहीं बल्कि रात में भी रह सकें) अच्छी मात्रा में स्थापित किये जाने चाहिये।

(3) छात्रों को कमाने और अपने शिक्षा व्यय का एक भाग अदा करने की सुविधायें देने के तरीके विकसित किये जाने चाहिये।[2] ऋण छात्रवृत्तियों के संबंध में आयोग का मत है कि ऋण छात्रवृत्ति कार्यक्रम के सुविधापूर्वक संचालन के लिये एक राष्ट्रीय ऋण छात्रवृत्ति बोर्ड स्थापित किया जाना चाहिये।[3] प्रादेशिक असन्तुलन समाप्त करने के लिए आयोग ने निम्न अभिगमायें की हैं—

---

1. शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964-66) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली। दी मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन डिवीजन, हिन्दी संस्करण, 1968; पृष्ठ 715
2. शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन (1964-66) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली। दी मैनेजर आफ पब्लिकेशन डिवीजन, हिन्दी संस्करण, 1968; पृष्ठ 717
3. वही पृष्ठ 717

1. राज्य स्तर पर विभिन्न जिला में शिक्षा विकास के समकरण की नीति जानबूझकर अपनाई जानी चाहिये और उसके लिये आवश्यक प्रशासनिक एवं वित्तीय उपाय किये जाने चाहियें।

राष्ट्रीय स्तर पर यह भारत सरकार की जिम्मेदारी समझी जानी चाहिए कि वह विभिन्न राज्यों में शिक्षा के विकास का अनुकरण करें। इसके लिए आवश्यक कार्यक्रम जिनमें कम उन्नत राज्यों को विशेष सहायता देना भी शामिल है, विकसित किये जाने चाहियें।[4]

यह बात विचारणीय है कि समान अवसर जैसे आदर्श के क्या आधार हों इस सन्दर्भ में यहां कुछ महत्वपूर्ण आधारों पर विचार किया जाता है। नैतिक-शिक्षा में अवसरों की समानता नैतिक-दृष्टि से न्यायोचित है। नैतिकता का सम्भवत. इससे अधिक सुपरिभाषित तत्व और कोई दूसरा नहीं हो सकता कि किसी भी मनुष्य को दूसरों को चोट पहुँचाने, परेशान करने अथवा उन पर जबरदस्ती दबाव डालने का अधिकार नहीं है। विश्व के सभी महान धर्म इस बात पर जोर देते हैं कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करिये जैसा उनसे आप अपने लिए अपेक्षा करते हैं। सभी मनुष्यों के प्रति ठीक एवं समान न्याय एक जटिल आदर्श है, और इस आदर्श का एक महत्वपूर्ण तत्व है, समान शैक्षिक अवसर-प्रशिक्षण हेतु समान शैक्षिक अवसर जिससे वृद्धि एवं विकास का पथ सुगम हो सके।

पैलोपोनीशियन युद्ध में वीरगति प्राप्त सैनिकों के सम्मान में बोलते हुए सुप्रसिद्ध सम्राट पैरीक्लीज कहता है:-

हमारी सरकार प्रजातन्त्र के नाम से जानी जाती है। जिसमें सभी मनुष्यों को केवल निजी वाद-विवाद के लिए ही कानूनी समानता प्राप्त नहीं है, वरन् सार्वजनिक पदों के चुनाव में भी हमारे यहाँ वर्ग अथवा श्रेणी की दृष्टि से विचार नहीं किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य का चुनाव उसके गुणों के अधार पर ही होता है। साथ ही गरीब के कारण ही किसी भी मनुष्य की उपेक्षा नहीं की जाती।

संविधानों एवं शताब्दियों से सुरक्षित ऐतिहासिक अभिलेखों तथा विश्व के सभी भागों में समान रूप से महत्व रखने वाला यह आदर्श तभी साकार हो सकता है जब समाज के सभी वर्गों के लोगों की शिक्षा तक पहुँच हो।

4. वही पृष्ठ 718

आर्थिक

प्राचीन इतिहास का अध्ययन बतलाता है कि प्राचीन आर्थिक ढांचों में जन्म एवं आर्थिक स्थिति पर आधारित होने के कारण शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। आज के संसार में कुशल, बुद्धिमान एवं सुप्रशिक्षित मांगों के प्रकाश में शिक्षा पर इस प्रकार का बंधन न केवल नैतिक दृष्टि से ही त्रुटिपूर्ण है, वरन् आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः अव्यावहारिक भी है, सक्षम आर्थिक उत्पादन के लिए समान शैक्षिक अवसर सबसे बड़े प्रेरक हैं क्योंकि इससे पारिवारिक स्थिति एवं उच्च वर्ग में जन्म जैसी बातों का उतना महत्व नहीं रह जाता जितना प्रशिक्षित बुद्धि एवं परिश्रम का।

राजनैतिक

फ्रांसीसी क्रान्ति होने का एक प्रमुख कारण एक गुप्त शाही आदेश भी था, जिसके अनुसार बिना किसी अपराध एवं मुकदमे के निर्दोष व्यक्तियों को उनके घर से पकड़वाकर उन्हें जेल में ठूँस दिया जाता था और उनकी सम्पत्ति पर जबरन कब्जा कर लिया जाता था। इसी प्रकार प्रजातन्त्र के आज के युग में अज्ञान अथवा ईर्ष्यावश दिया मत पत्र भी एक प्रकार से गुप्त शाही आदेश के समान ही है, क्योंकि प्रत्येक मत पत्र में निर्णायक शक्ति होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शैक्षिक अवसरों की अनुपस्थिति में मत पत्र अज्ञानी व्यक्ति को हानि ही पहुँचायेगा। दूसरी ओर बुद्धिमतापूर्ण सम्मति एवं परिपक्व देशभक्ति के आधार पर दिये हुए मत पत्र देश एवं इसके आदर्शों को दृढ़ करने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होंगे।

अवसर की समानता के कुछ नमूने :—

शैक्षिक अनुसंधान पर आधारित निष्कर्ष योग्य सामाजिक वर्ग एवं उच्च शिक्षा तक पहुँच के पारस्परिक सम्बन्धों एवं इनमें अन्तर्निहित प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं, किन्तु अवसर की समानता सम्बन्धी विभिन्न सम्भावनाओं एवं नमूनों के बारे में यथेष्ट अनुसंधान सामग्री उपलब्ध नहीं है। आइए, हम इस विषय में कुछ नमूनों पर विचार करें—

(अ) मौलिक नमूना—कई शताब्दियों से मनुष्य ऐसे समाज के स्वप्न देखता आ रहा है, जिसमें समान रूप से सक्षम लोगों के साथ (उनकी सामाजिक पैदाइश की उपेक्षा करते हुए) समान रूप से व्यवहार किया जा सके। अनुसंधान की भाषा में मोटे तौर पर इसका यों अनुवाद किया जा सकता है—

(विद्यालय) अथवा (कालेज) जाने वाले बालको की संख्या को हम "स य सा" मान लेते है, जिसमें "य" बालकों के योग्यता स्तर और "सा" उनकी सामाजिक स्थिति को बतलायेगा। ऐसी स्थिति में—

सं क क=सं क ख=सं क ग=सं क ह, तथा
सं क क सं ख क सं ग क ....सं ह क,

इस नमूने के अनुसार योग्यता वृद्धि के साथ ही विद्यालय जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होगी। दूसरी ओर, योग्यता वृद्धि पर सामाजिक स्थिति का कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

(ब) मध्यम नमूना—ऐसी नयन पद्धतियो पर बल देना जिससे प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार समाज में प्रतिष्ठित किया जा सके, असम्भव ही नही अवांछनीय भी लगता है। समाज की अनेक परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं के कारण मानव की नैसर्गिक योग्यता में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण का अर्थ है सामाजिक ढाचे का अस्त-व्यस्त होना। अतः उचित यह है कि योग्यता के अनुसार स्थिति-निर्धारण के लिये इतना ऊँचा मूल्य नही चुकाया जाय। अतः यहाँ हम ऐसे "नमूने" पर विचार कर सकते हैं, जिसमें केवल योग्यता ही नही वरन् योग्यता एवं सामाजिक स्थिति दोनो का योग हो (विद्यालय अथवा कॉलेज जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या ही हमारे उदाहरण का आधार होगा)।

(1) सं क क > स ख क > सं ग क > .... सं ह क,
(2) सं क ख > सं ख क > (सं य सा > स सा य)
(3) स क क > सं क ख > स क ग > ....स क ह

प्रथम स्थिति निश्चित रूप से सरलतम एवं सुस्पष्ट है। इसके अनुसार, किसी विद्यालय (अथवा कॉलेज) जाने वाले विद्यार्थियो की संख्या उनकी योग्यता वृद्धि के साथ-साथ बढती जाती है। इसके विपरीत उच्च सामाजिक वर्गों में उनकी संख्या बढती जाती है। चाहे वे किसी भी (निम्न) योग्यता-स्तर के हों। दूसरे शब्दो में विद्यालय जाने वाले विद्यार्थियो की संख्या वृद्धि में उनकी उच्च सामाजिक स्थिति सहायक होती है, चाहे वे किसी भी (निम्न) योग्यता स्तर के ही क्यों न हो। हाँ, दूसरी स्थिति से योग्यता स्तर पर एवं सामाजिक स्थिति का सापेक्षित प्रभाव स्पष्ट है। इससे हमे यह पता चलता है कि योग्यता स्तर का या तो सामाजिक स्थिति के बराबर प्रभाव होगा या उससे अधिक।

(स) रूढ़िवादी नमूना—उपर्युक्त वर्णन से रूढ़िवादी विचारधारा का रूपक स्पष्ट हो जाता है। इस विचारधारा के अनुसार किसी भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति ही सबसे अधिक महत्व रखती है और यदि हम इस बात में विश्वास रखते हैं कि निम्न सामाजिक वर्गों में पायी जाने वाली प्रतिभा एवं योग्यता को यथासम्भव प्रोत्साहित किया जाय और उसे पल्लवित करने के लिए हर सम्भव उपाय किये जायें तो यह हमारा आत्मछलावा ही होगा। रूढ़िवादी विचारधारा के मतानुसार कोई भी समाज तभी प्रगति कर सकेगा जब वह सामाजिक स्थिति के अनुसार अवसरों का निर्माण करता है तथा सदियों से चली आ रही सामाजिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करता है।

मोटे तौर पर रूढ़िवादी नमूना निम्न प्रकार का होगा—

सं क क = सं ख क = सं ग क .... सं ह क, तथा

स क क > सं क ख > सं क ग > .... सं क ह

उक्त नमूने के अन्तर्गत, योग्यता स्तर के प्रति उदासीनता दिखाई गई है। इसके विपरीत, सामाजिक स्थिति की उच्चता में वृद्धि के साथ-साथ बालकों की संख्या में भी वृद्धि हो जाती है।

निश्चय ही रूढ़िवादी नमूना हमारे लिए आदर्श नमूना नहीं हो सकता। मध्यम नमूना सामाजिक स्थिति अथवा सामाजिक मापदण्डों को कुछ राहत प्रदान करता है। किन्तु यदि हम शिक्षा में सभी के लिए समान अवसर प्रदान करना चाहते हैं, तो हमें नमूना ही अपनाना होगा।

हमारी नीति : कुछ सुझाव

(1) विकास के पथ—इस समस्या को हल करने के कई पथ हैं। इन सब रास्तों के अन्तर्गत उच्च शिक्षा के लिये कई प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है, साथ ही इनमें विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण की भी आवश्यकता होती है।

(अ) माध्यमिक शिक्षा का द्वि-स्तरीय संगठन—इस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत ऐसी एक योजना सम्भव है जिसके अनुसार सामान्य स्कूली शिक्षा को 15-16 वर्ष की आयु तक बनाया जा सकता है। तत्पश्चात् उच्चतर विषयों का शिक्षण देने वाली एवं विशेष प्रकार

की संस्थाओं की व्यवस्था की जा सकती है । दूसरे स्तर पर बालकों को विशेष प्रकार की शिक्षा को दिलाने का दायित्व उनके माता-पिता पर छोड़ा जा सकता है ।

(ग) "व्यावहारिक पाठ्यक्रमों" एवं नियोजन का योग—इस प्रकार की पद्धति में हमारा झोर न तो पूर्णतया शैक्षिक पक्ष ही होगा और न ही पूर्णतः शारीरिक पक्ष पर । इस पद्धति में रचनात्मक व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता होगी । "व्यावहारिक" शब्द का प्रयोग शिक्षा के इसी रचनात्मक पहलू के अर्थ में किया जा रहा है । इस प्रकार का प्रशिक्षण किसी विशेष व्यवसाय से संबंधित होकर व्यापक वैज्ञानिक रुचियों के जाग्रत करने का एक सुव्यवस्थित प्रयास होगा । इस पद्धति में नवीन शिक्षण पद्धतियों की आवश्यकता होगी । जो ठोस उदाहरणों से सामान्य नियमों की ओर प्रवृत्त हो सकें तथा जो मौलिक संकल्पनाओं के स्थान पर किसी भी वस्तु के कार्य करने की विभिन्न प्रक्रियाओं पर अपेक्षाकृत अधिक बल दे सकें । ऐसे योग्य नवयुवक जिनके मस्तिष्क इस प्रकार की शिक्षा के लिए अधिक उपयुक्त हों तथा जिनके लिए शुद्ध शैक्षिक पथ प्रभावहीन न हो उनके लिये 18 या अधिक की आयु तक विशेष विद्यालयों एवं तकनीकी संस्थाओं में ऐसी शिक्षा प्राप्त करने के अपेक्षाकृत अधिक अवसर प्राप्त होंगे । पूरे समय वाले पाठ्यक्रम निस्सन्देह सर्वोत्तम रहते हैं । किन्तु कुछ एक के लिए उनकी वय (अधिकांश, अठारह से कम) को दृष्टिगत रखते हुए नियोजन एवं "सैंडविच" पाठ्यक्रमों का योग ही उनकी प्रतिभा का उचित उपयोग है ।

(ङ) प्रत्यक्ष रूप से जनता की राय को प्रभावित करने वाले अध्यापकों को नई नीतियों का समर्थन करना चाहिए । माता-पिता एवं बड़े (किशोर) विद्यार्थियों को अच्छे पारिवारिक वातावरण के महत्व से परिचित किया जाना चाहिए । विद्यालय न जाने वाले किशोरों के लिए हमें विद्यालयों को आकर्षक स्थान बनाने का प्रयास करना चाहिये जिससे उनमें यह भावना अपनी जड़ें जमा सके कि विद्यालय एक अरुचिकर एवं ऊबा देने वाला स्थान नहीं है । इसका लाभ यह होगा कि आगे चल कर वे विद्यालय के सुखद दिनों की इस भावना से नयी पीढ़ी को प्रेरित कर सकेंगे । अंत में हमें ऐसी समाज सेवी संस्थाओं से सहयोग करना चाहिए जो शिक्षा की प्रगति के लिए साधन जुटाती हों तथा जो अपने सामाजिक सुधार के कार्यक्रम में ऐसे उपायों पर बल देती हों जिनसे प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियों में सुधार लाया जा सके ।

(2) भारतीय "पब्लिक स्कूल"

हमारी पूरी की पूरी सामाजिक व्यवस्था में भारतीय पब्लिक स्कूल अवसरों की असमानता का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय पब्लिक स्कूल स्वतन्त्र तो होते हैं, साथ ही भारी शुल्कों के कारण समाज के केवल उच्च वर्ग के बालक ही इनमें शिक्षा प्राप्त कर सकते है। इनमे शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी अपने ही समाज में अपने आपको विशेष ऊँचा समझने लगते हैं, और इस प्रकार उच्च एव मध्यवर्ग के बीच एक नई उप-सांस्कृति (नये वर्ग) का निर्माण करते हैं।

हमारी राय में निम्न तथ्यो के प्रकाश मे भारतीय पब्लिक स्कूलो से संबधित नई नीति का निर्माण किया जा सकता है—

(ग्र) हमारे प्रजातन्त्र मे प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता के अनुरूप श्रेष्ठतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। यह मानते हुए कि पब्लिक स्कूल जो शैक्षिक दृष्टि से उत्तम स्कूल हैं, यदि नहीं तो उनमें सुधार किया जाए अथवा उन्हें पूर्णत: बंद कर दिया जाय। सभी योग्य बालकों के लिए समान रूप से खुले रहें, जिनसे वे उनका लाभ उठा सकें। कोई भी स्कूल (कम से कम प्रजातन्त्र मे) सामाजिक दृष्टि से किसी वर्ग विशेष के लिए न हो नई नीति निर्मित करते समय यह बात विशेष रूप से हमारे ध्यान मे रहे।

(ग्रा) इन पब्लिक स्कूलो मे प्रवेश पाने की योग्यता ऊँची देने की क्षमता न हो जिससे शिक्षा के "क्रय-विक्रय" पर नियन्त्रण रखा जा सके। यहां एक ठोस तर्क यह दिया जाता है कि ऐसे माता पिता जो अपने बालको को इन स्कूलों में शिक्षा दिलाना चाहते हैं, अपनी इच्छा पूर्ति के लिये स्वतन्त्र रहे, किन्तु सार्वजनिक हित की दृष्टि से कुछ बधन इसलिए आवश्यक हो जाते है कि मनुष्य अपने धन का किस प्रकार उपयोग करता है। इस विषय मे राज्य को उन परिस्थितियों को निर्धारित करने का अधिकार है, जिनमें कोई भी अपने धन का उपयोग करने में स्वतंत्र हो। इसी सिद्धान्त को शिक्षा के क्षेत्र में लागू किया जा सकता है, जिसके अनुसार पब्लिक स्कूलों को धनिक एवं उच्च वर्ग के बालको को प्रवेश देने का अधिकार प्राप्त हो बशर्ते छात्रवृत्ति प्राप्त योग्य बालको की एक निश्चित संख्या (जो समाज को सभी वर्गों का सही प्रतिनिधित्व कर सकें) के लिए सुरक्षित स्थान हैं.।

(द) यहाँ हमें इस बात का भी निर्णय कर लेना होगा कि सीमित वर्ग के लिए इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था का प्रजातन्त्र के मूलभूत उद्देश्य से मेल खाती है ? यदि नहीं तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि पब्लिक स्कूल की इस पद्धति को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाय क्योंकि यह हमारे ही समाज में एक विशेष वर्ग (एलाइट) का निर्माण करती है। यदि पब्लिक स्कूल के दरवाजे सभी के लिए खुले भी रहे तब भी इसमें प्रवेश की सफलता को एक पुरस्कार—एक विशेष योग्यता—ही माना जायेगा। तो फिर ऐसी शिक्षा पद्धति को अधिक अनावश्यक प्रोत्साहन क्यों ?

(3) सामाजिक तथ्य अथवा मूल्य खण्ड

अन्त में किसी भी शिक्षा नीति पर विचार एवं निर्णय लेते समय हमें उन मूल दण्डों पर भी विस्तार से विचार करना होगा जिन पर हमारे सारे कार्य एवं अभिप्राय आधारित होते हैं। सामाजिक तथ्यों का विश्लेषण हमें यह बतलाता है कि हमारे समाज में अभी क्या हो रहा है और इस प्रकार यह विश्लेषण हमारे समाज के व्यावहारिक परिणामों के लिए मूल्यांकन का कार्य भी करता है, हमें यहाँ इस बात पर विचार कर लेना होगा कि हमारे व्यापक सामाजिक उद्देश्यों एवं भावी समाज (जिनमें हम रहना चाहेंगे) के आदर्श के प्रकाश में हमें क्या करना है ? हमारे जैसे विकासशील समाज में हमें शिक्षा के कार्य की सकल्पना पर पुनः विचार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

वर्तमान में हमारे विद्यालयों में प्रतिभा का अत्यधिक अपव्यय हो रहा है। हम यह जानते हैं कि इन विद्यालयों में भावी वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों का भारी अपव्यय गम्भीर चिन्ता का विषय है, किन्तु भावी कलाकारों एवं लेखकों (जो हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं एवं सांस्कृतिक धरोहर के प्रति जागरूक रह सकेंगे) का भारी अपव्यय क्या कम चिन्ता का विषय है ? यदि नहीं तो शिक्षा में समान अवसर के सम्बन्ध में नयी नीति का निर्माण किया जाय—यही आज की प्राथमिक व्यवस्था एवं आवश्यकता है।

उपसंहार

आज के प्रजातन्त्र की सफलता के लिये अवसरों की समानता एक मूलभूत आवश्यकता है। शिक्षा (सभी स्तरों पर) इस उद्देश्य को प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है। इस विषय में नीति निर्धारण करते समय इस

समस्या के सभी पहलुओं पर विस्तार से विचार किया जाना आवश्यक है। समाज के कुछ वर्गों से आवाज उठेगी—इसके लिए तैयार रहना चाहिए। किसी भी कार्य के समारम्भ में व्यवधान तो आयेंगे ही। अच्छा होगा कि सरकार एव समाज दोनों ही इस दिशा मे प्रभावी कदम उठाकर अवसर सम्बन्धी समानता की वर्तमान समस्या का निर्णय करें।

सन्दर्भ सूची :—

Gaind, D.N & Sharma, R.P. : Educational Theories and Modern Trends, Agra : Ram Prasad and Sons, 1964.
Report of Education Commission (1964 66): Goverment of India : Ministry of Education, New Delhi : Publications Division-I Edition, 1966.

———

(ब) शिक्षा के समान अवसर से जुड़े मुद्दे

भारत में शैक्षिक अवसरों को समानता के लिए स्वातन्त्र्योत्तर काल में नियोजित प्रयत्न किये गये, पर अमूर्त बाधाओं पर प्रभावी रूप से प्रहार नहीं किया गया। इससे इस दिशा में आशानुकूल सफलता नहीं मिली। इन अमूर्त बाधाओं में विभिन्न वर्ग विशेष के छात्रावास तथा विद्यालय, जैसे राजपूत छात्रावास, चारण छात्रावास, जैन छात्रावास, जाट छात्रावास, पब्लिक स्कूल, विद्यालय, सैनिक आदि-आदि।

आज तक सरकार ने कानून बना कर विद्यालय खोलने या उसे क्रमोन्नत करने की तर्क संगत नीति एवं तरीका नहीं अपनाया। राजनेता जहाँ चाहते हैं, विद्यालय खुलवा लेते हैं। कई ऐसे विद्यालय हैं जहाँ उपयुक्त-मात्रा में छात्र नहीं है। इससे अन्य साथी छात्रों को मिलने वाली सुविधाएँ कम हो जाती हैं। भारत गांवों का देश है, पर गांव के निवासियों को शिक्षा की सुविधाएँ कहाँ उपलब्ध हो रही हैं। गाँवो के विद्यालयो की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जा रहा है तथा शहरों में विद्यालयों की संख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। सभी प्रकार के विद्यालय गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक हैं। यह अन्तर एक राज्य के विभिन्न जिलों में हो, इतना ही नहीं है, यह अन्तर विभिन्न राज्यों में भी पाया जाता है। यह भी शिक्षा के लिए समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने के मार्ग में एक बाधा है।

ग्रामीण तथा शहरी अभिभावकों की आय में अन्तर पाया जाता है तथा यह अन्तर निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के अभिभावको के पास शिक्षा पर खर्च करने के लिए राशि मे अन्तर रहेगा। शिक्षा पर यह व्यय करने की उनकी क्षमता शिक्षा के समान अवसरो को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है। शहरी माता-पिता अपने बच्चो को भारी शुल्क चुका कर निजी विद्यालयो मे शिक्षा दिलवाते हैं, जबकि ग्रामीण माता-पिता के पास न तो विद्यालयों को शुल्क देने के लिए राशि है तथा न ही वहाँ विद्यालय। जब तक शिक्षा पर सभी प्रकार का शुल्क समाप्त नही कर दिया जायेगा, शिक्षा के समान अवसरों की बात कपोल कल्पना ही रहेगी। गरीब छात्रों को पोषक भोजन पौष्ठक, पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराना चाहिए। छात्रवृत्तियो की संख्या बढ़ाने के साथ-साथ राशि का

भुगतान आवश्यकता के समय हो सके, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निर्धनता को समाप्त कर शिक्षा के लिए समान अवसरों को अग्रसर किया जा सकता है।

ग्रामीण तथा अनपढ़ माता-पिता एवं शहरी शिक्षित तथा विभिन्न प्रकार की सुविधाओं का उपभोग करने वाले माता-पिता के घर का वातावरण निश्चित रूप से भिन्न होता है। इस प्रकार का वातावरण बालक-बालिकाओं को सीखने के कम या अधिक अवसर दे सकता है या सीखने के लिए प्रोत्साहन या हतोत्साह प्रदान कर सकता है। दोनों वर्गों के बीच का अन्तर शैक्षिक अवसरों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है।

समाज के हर वर्ग के बच्चों की संख्या समान नहीं है या इसे यों कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के सदस्यों के संरक्षितों या विद्यालय जाने वाले बच्चों की संख्या समान नहीं है और विद्यालय जाने वाली आयु के कितने बच्चे हैं, उनका विभाजन सामाजिक स्तर पर आय वर्ग के अनुसार क्या है, शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध कराते समय इस पर कभी ध्यान नहीं दिया जाता। प्रौढ़ों के लए कितने संस्थान जरूरी हैं ? कितने व्यक्ति पत्राचार पाठ्यक्रम से पढ़ना पसन्द करेंगे, कितने विद्यार्थी अनौपचारिक शिक्षा से लाभ उठायेंगे जो एक या अन्य कारणों से अपनी शिक्षा समाप्त करने के पूर्व ही विद्यालय छोड़ चुके हैं कितने छात्र पड़ोसी विद्यालय या सामान्य विद्यालय से शिक्षा प्राप्त करेंगे ? इस सम्बन्ध में कोई अभिलेख तैयार नहीं है।

कई राज्यों मे प्रायः सभी विद्यालय सरकार द्वारा सचालित होते हैं तथा कई राज्यो में इसका उल्टा है। मध्य प्रदेश, राजस्थान में लगभग 96% विद्यालय सीधे सरकार के नियंत्रण में हैं, जबकि गुजरात, उत्तर प्रदेश में इसका उल्टा है। इन सस्थाओं मे भेद होने का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है तथा शिक्षा के समान अवसर एक सुनहरा आकाश कुसुम मात्र बन जाता है।

यहाँ निजी विद्यालयो को दिये जाने वाले अनुदान पर भी विचार किया जाना चाहिए। यह अनुदान भेद-भाव सहित अविवेकपूर्ण नीति से दिया जाता है। यह अनुदान पिछले तीन वर्ष के खर्चों के औसत पर 50 से 90 प्रतिशत तक दिया जाता है। व्यवहार मे देखा जाता है कि

साधन सम्पन्न विद्यालय 70 से 90 प्रतिशत अनुदान प्राप्त कर लेते हैं, जबकि साधन हीन विद्यालयों को अनुदान की अधिक आवश्यकता है । इससे स्पष्ट है कि अनुदान के नियम राजनैतिक लाभ के लिए तोड़-मरोड दिये जाते हैं। व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि शिक्षा मुख्यालय के पास स्थित विद्यालय या राजनेताओं द्वारा संचालित विद्यालय अनुदान का अधिक लाभ उठाते हैं।

शिक्षा के समान अवसरों की बात करते समय इस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि विभिन्न आयु वर्ग के कुल बच्चों की संख्या क्या है ? क्या उनके लिए पर्याप्त विद्यालय है ?

वर्ग, आयु वर्ग—

6 से 11
11 से 14
14 से 17
17 से आगे

क्या इन आयु वर्ग के बच्चों की संख्या ज्ञात कर उसी अनुपात में आवश्यकतानुसार विद्यालयों की स्थापना की गई है । यह समस्या तब और भी विकट हो जाती है जब बालक-बालिका के अनुसार विचार किया जाय तथा अनुसूचित जनजाति या दुर्गम स्थानों के विद्यालयों पर विचार करते समय तो यह समस्या और भी भयकर विकराल रूप लिये खड़ी होती है । आज तक किसी शिक्षा अधिकारी या योजनाधिकारी ने इतनी बारीकी से विचार नहीं किया। यदि शिक्षा के प्रकार की दृष्टि से तकनीकी, संस्कृत, चिकित्सा, प्राविधिक, अभियान्त्रिकी, विधि सामान्य समाज कार्य या व्यवसाय प्रशासन विचार करें तो कोई भी विवेकी अच्छा या बुरा समझने वाला नागरिक छाती कूट लेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह सहज हो निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा के समान अवसर एक सुनहरा आदर्श विचार है जो व्यवहार में कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।



शिक्षा और राजनीति

जिला शिक्षा अधिकारी के कार्यालय के बाहर निजी शिक्षण संस्थाओं के अध्यापक धरने पर बैठे हैं। उनकी मांग है कि सेवा से पृथक किये उनके साथी को बिना शर्त पुनः सेवा में लिया जाय। धरने पर बैठे इन अध्यापकों पर नगरपालिका के प्रधान की कृपा है। जिला शिक्षा अधिकारी के कार्यालय पहुँचते ही चपरासी ने डाकिये से प्राप्त तार सामने रखा कि अमुक विद्यालय के छात्रों ने अपनी मांगों को लेकर हड़ताल कर दी है। उनकी प्रमुख मांग है कि पड़ोस के स्कूल की तरह ही उनका विद्यालय भी दो पारियों में लगाया जाय, जिससे ऊँची कक्षा के छात्र दिन में कहीं आंशिक कार्य ढूंढ सकें। अंकेक्षण दल की शिकायत है कि अमुक विद्यालय से एकाधिक बार स्मरण पत्र देने के बाद भी अंकेक्षण अनुपालना प्रतिवेदन नहीं आता है। विधायक का संकेत है कि उक्त प्रधानाध्यापक की गलतियों को या अनियमितताओं को नजरदाज किया जाय। वरिष्ठ उप जिला शिक्षा अधिकारी का कहना है कि अमुक विद्यालय से केस तैयार होकर नहीं आने से विद्यालय भवन अधिग्रहण नहीं हो रहा है। उस विद्यालय वाले गांव के सरपंच भी इस कार्य में रुचि नहीं ले रहे हैं। पूछ-ताछ करने पर ज्ञात हुआ कि प्रधानाध्यापक का व्यवहार सरपंच की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है। न्यायालय से मुकदमा जीत जाने पर एवं 18 वर्ष पुराने वेतन की बाकियात न मिलने के कारण अमुक विद्यालय के शिक्षक ने फिर अदालत से कार्यवाही करने की धमकी दी है। विधायक "अ" एक विद्यालय के प्रधानाध्यापक की शिकायत लेकर आये हैं कि वे मुख्यावास पर नहीं रहते हैं, शनिवार को प्रातः ही चले जाते हैं एवं सोमवार सन्ध्या को या मंगलवार को प्रातः ही लौटते हैं। विद्यार्थी उच्छृंखल हो रहे हैं, साथी अध्यापकों पर उनका कोई प्रभाव नहीं है, गांव के नागरिक उनकी सहायता से वंचित रहते हैं, मोटे रूप से प्रधानाध्यापक शैक्षिक नेतृत्व देने में असफल रहे हैं। एक अन्य विद्यालय के सभी अध्यापकों ने सामूहिक शिकायत की है कि चिकित्सा पुनर्भरण की सभी राशि प्रधानाध्यापक ही उपयोग करते हैं तथा अन्य अध्यापकों के चिकित्सा बिल भुगतान हेतु विचाराधीन पड़े रहते हैं, कालातीत हो जाते हैं। एक अन्य विद्यालय के प्रधानाध्यापक वाणिज्य

: व्याख्याताओं के अभाव में परीक्षाफल का उत्तरदायित्व उच्चाधिकारियों पर डालना चाहते हैं। उच्चाधिकारी ने व्याख्याताओं का पद-स्थापन इसलिए रोक रखा है कि उनके सुपुत्र का नाम अनुशंसित होकर नहीं आया है। यदि व्याख्याताओं का पद-स्थापन कर दिया जाय तो विलम्ब से प्राप्त होने पर उनके पुत्र का पद-स्थापन कहीं दूर-दराज दुर्गम स्थान पर करना होगा। प्रधानाध्यापक के मना करने पर एक अध्यापक को गोष्ठी में भाग लिये अवधि के लिए वेतन से वंचित कर दिया जाता है, प्रधानाध्यापक उसके गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार की शिकायत करता है। जिला शिक्षा अधिकारी के कार्यालय में उस अध्यापक के संबंधी कार्यालय सहायक पद पर कार्य करते हैं, वे जिला शिक्षा अधिकारी से प्रधानाध्यापक को कहलाते हैं कि अमुक अध्यापक से निभाइये, वे बहुत बड़े आदमी, सांसद, के रिश्तेदार हैं। विद्यालय में वे अनुशासन की चिन्ता छोड़ दें। बिना उपयुक्त कारण बताये अध्यापक लम्बी छुट्टी पर चले जाते हैं या परीक्षा की तैयारी करते हैं, बिना अनुमति प्राप्त किये परीक्षा में प्रविष्ट होते हैं, आदि शिकायतें जिला शिक्षा अधिकारी को मिलती रहती हैं। नियमों में भूतलक्षी परिवर्तन होने से, पूर्व में निर्वेतन अवकाश का उपभोग करके अध्यापक कालान्तर में उसे अध्ययन अवकाश में परिवर्तित करने की प्रार्थना करता है तथा बाकियात भुगतान का निवेदन करता है।

ये तथा ऐसे कितने ही कार्य जिला शिक्षा अधिकारी के लिये दैनन्दिन कार्य हो गये हैं। न केवल इतना ही, उसे अपने अधीनस्थ उप जिला शिक्षा अधिकारी को अपने क्षेत्र में रिक्त पदों पर पद-स्थापन के लिए अध्यापक उपलब्ध कराने हैं, अन्य जिले के साथी जिला शिक्षा अधिकारी को उस जिले में स्थानान्तरण चाहने वाले अध्यापकों की सूची समय पर भिजवानी है। इसे विधायक ने इसलिए रुकवा रखी है कि उनका सम्बन्धी अध्यापक अभी नये स्थान पर स्थानान्तरित नहीं हुआ है इससे भी एक कदम और आगे कि द्वितीय श्रृंखला के रिक्त पदों की विषयवार सूचना उपनिदेशक जी को समय पर प्रस्तुत करनी है तथा बालिका शिक्षा वृद्धि के लिए निदेशक जी द्वारा निर्धारित लक्ष्यों से अपने क्षेत्र के प्रधानाध्यापकों को परिचित कर कारगर प्रयत्न करवाने है तथा नामांकन के लक्ष्यों मे प्राथमिक विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों को सचेत करना है।

छोगालाल ने अपने साथी अध्यापक अरविन्द को बताया कि कल ही स्थानीय विधायक ने पड़ोसी विद्यालय के एक अध्यापक का तबादला निरस्त करवा दिया है। इसके लिए अध्यापक ने विधायक की हथेली भली प्रकार गर्म की है तथा प्रदेश की राजधानी में जाकर अपने चहेते राज्य मंत्री की सहायता पाने के लिए अच्छा खासा मार्ग-व्यय भी चुकाया है।

अरविन्द—अरे वही चौथी कक्षा पास विधायक महोदय.......... आजकल उनका बड़ा महत्व बढ़ रहा है। कहां ले जायेगा देश को शिक्षा में इस प्रकार का दंगल.... ...... ।

छोगालाल—जब तीन दिन के समय में ही दो-ढाई हजार रुपये तथा यात्रा-व्यय कोई प्राथमिक शिक्षा प्राप्त विधायक के रूप में नागरिक से प्राप्त करले तो विद्यार्थी क्यों कठोर परिश्रम कर बोर्ड की या विश्व-विद्यालय की परीक्षाएँ पास करेंगे ? फिर तो वे भी नेता ही बनना चाहेंगे।

प्रवर विद्यालय निरीक्षक ने अमुक अध्यापिका का वेतन भुगतान रुकवा दिया है। कारण कि निरीक्षण के समय वे विद्यालय में नहीं थीं। ग्रामीणों एवं बालकों से पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि वे पिछले 10-12 दिनों से विद्यालय में अनुपस्थित रही हैं। वेतन न मिलने पर उक्त अध्यापिका ने सरपंच से मिल कर पूरे माह का उपस्थिति प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया। प्रस्तुत करने पर अगले ही दिन वेतन का विकास अधिकारी जी ने भुगतान करवा दिया। ऐसी स्थिति में प्रवर विद्यालय निरीक्षक चाहते हुए भी क्यों काम करेंगे ? इससे अधिक कि ऐसे अवांछनीय कार्यों के फलस्वरूप होने वाली हानि की सरपंच कल्पना भी नहीं कर सकते। उनके जागरूक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

जिला शिक्षा अधिकारी ने स्थानीय विधायक के कहने से राम लुभाया अध्यापक का स्थानान्तरण अन्य विद्यालय में कर दिया है। राम लुभाया अपने कार्यों से अपने प्रधानाध्यापक का प्रिय अधीनस्थ अध्यापक है। वे विद्यालय में रात्रि को बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाते हैं, जिस पर विद्यालय का परीक्षा परिणाम निर्भर करता है, विद्यालय में सचयिका का कार्य भी वे ही देखते हैं, बच्चों के साथ खेलों में भी भाग लेते हैं, यदा-कदा लिपिकों के न आने पर वे उनका कार्य भी निपटा देते हैं। प्रधानाध्यापक ने जिला शिक्षा अधिकारी जी से रामलुभाया का स्थानान्तरण निरस्त करने की प्रार्थना की पर उन्हें दो-टूक उत्तर मिला कि उन्हें रामलुभाया को मुक्त

करना ही होगा क्योंकि स्थानीय विधायक ऐसा चाहते हैं। विद्यालय का कार्य कैसे चल रहा है या कैसे चलेगा या अमुक के स्थानान्तरण से विद्यालय पर कैसा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, आदि बातों से जिला शिक्षा अधिकारी का कोई लेना-देना नहीं है। यदि कभी जिला शिक्षा अधिकारी या शिक्षा उप निदेशक का तबादला हो जाय तो विधायक या सांसद ही अपने प्रिय चहेते मंत्रियों की सहायता से रुकवा सकते हैं। ऐसी स्थिति में किसी काम में जिला शिक्षा अधिकारी प्रधानाध्यापक का परामर्श क्या माने ? फिर भले ही वह विद्यालय के हित में ही क्यों न हो ? स्पष्ट है कि वे तो सांसद या विधायक की बात ही मानेंगे जो उनके आड़े समय में सहायता कर सकते हैं। प्रधानाध्यापक तो उनको कोई कारगर या प्रभावी सहायता नहीं कर सकता। फिर उनसे उनकी बात या विद्यालय के हित की बात मनवा लेने की अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए।

ऊपर वर्णित स्थितियों में प्रश्न उठता है कि क्या अधिकारी अपने अधीनस्थों का सहयोग प्राप्त करते हुए, सहज गति से, बिना कार्य का स्तर गिराये, तनाव-मुक्त हो कर, उनका विश्वास प्राप्त कर, प्रसन्नचित्त से, अद्यतन तकनीक काम में लेते हुए, निष्पक्ष हो कर कोई कार्य सम्पादन कर सकता है ? कदम-कदम पर गंदी एवं घृणित राजनीति अपने छोटे, तुच्छ एवं निहित स्वार्थों के लिए हस्तक्षेप करती है। शिक्षा तथा राजनीति में संबंध विच्छेद की या शिक्षा के क्षेत्र को राजनेताओं की दखलन्दाजी से मुक्त कराना आज की सर्वोपरि आवश्यकता है।

राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान तथा राजनैतिक जागरुकता आज की शिक्षा प्रणाली का अभिन्न अंग बन गया है। जनतंत्रात्मक समाज में, जहाँ व्यक्ति को हर प्रकार की लिखित संविधान के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त है, इस प्रकार के प्रजातन्त्र तथा क्रियाशील शासन-तंत्र का ज्ञान युवा पीढ़ी के लिए अपरिहार्य है। यही प्रजातंत्र का ज्ञान उनके सराहनीय एवं शालीन भावी जीवन का आधार हो सकता है।

शिक्षा तथा राजनीति के बीच विभाजन-रेखा कहाँ है ? यदि आज तक इस विषय पर नहीं सोचा गया या ऐसी रेखा नहीं खींची गई है तो अब ऐसी रेखा खींचने का खुले हृदय से स्वागत किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों एवं शिक्षा के लिए ही नहीं वरन् समग्र राष्ट्र के लिए यह बेहतर हित में होगा कि अब इन दोनों के बीच एक स्पष्ट दीखने वाली विभाजन-रेखा

सौंप दी जाय। क्योंकि विद्यार्थियों का बहुत सारा समय घर तथा विद्यालय में उनको राजनैतिक गतिविधियों में प्रशिक्षित करने के लिए चला जाता है। उनकी यही गतिविधियां हिंसा का रूप ले लेती है। कोई भी समझदार राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद् तथा राजनयिक यह बेहिचक स्वीकार करेगा कि देश को के अस्वस्थ राजनैतिक कार्यों हिंसक गतिविधियों तथा अमानवीय कार्यों से बचाया जा सके, इन हिंसक कार्यों से उनका कोई भला होने वाला नहीं है, ये भी वे जानते हैं, पर विवश है। कई ख्याति प्राप्त नेता उनके संस्थान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकार करते हैं कि विद्यार्थियों का नवयुवकों के इन हिंसक गतिविधियों में लिप्त होने के लिए पर्याप्त आधार हैं। नवयुवको के पास शक्ति है, दमखम है, समय है, उनके पास हमसे अधिक सूचनायें तथा ज्ञान है तथा वे चाहते हैं कि उनके स्वप्नो के अनुसार आने वाले अच्छे व शक्तिशाली भारत का निर्माण हो। शिक्षा, विद्यार्थी तथा शिक्षकों की समस्याओं पर ठण्डे मस्तिष्क से विस्तृत रूप से सोच-समझकर समग्र हित में निर्णय लिया जाय–इस निर्णय प्रक्रिया में चाहे छात्रों को सहभागित्व न मिले, पर उनमें यह विश्वास पैदा किया जाना अत्यन्त आवश्यक है कि लिये जाने वाले निर्णय उनके कल्याण के लिए, उनके हितों की रक्षा के लिए ही है। यदि उनके महत्व को स्वीकार नहीं किया गया तो प्रकृतिदत्त गुणों का उपयोग वे सार्वजनिक सम्पत्ति को जलाने, आवागमन में बाधा पहुँचाने, पत्थर फेंकने, तथा तोड़-फोड़ में ही करेंगे। शिक्षक ही उनमें समाज सम्मत परिवर्तन लाने के लिए, उनमें मानव को तैयार कर सकते हैं।

प्रत्येक नागरिक का किसी भी प्रकार की राजनैतिक गतिविधियो में लिप्त होने का, भाग लेने का मौलिक अधिकार है, पर इसे विधि के दृष्टि-कोण से भी जांचा-परखा जाना चाहिए। इसकी शैक्षिक उपयोगिता पर भी विचार करना समीचीन लगता है। इस पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या इन दोनों के बीच सीमारेखा खीची जा सकती है? यदि इसका उत्तर हाँ रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है कि विद्यार्थियो के साथ किस सीमा तक एवं विस्तार तक राजनीतिक दलों के सामने, सासद तथा विधायको के सामने, माता-पिता तथा अध्यापको के सामने यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है तथा सभी एक स्तर से यह भी स्वीकार करते हैं कि देर-सबेर यह लक्ष्मण रेखा तो खींचनी ही होगी।

जन साधारण में यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि विद्यार्थियों को राजनैतिक चेतना की शिक्षा दी जानी चाहिए, पर साथ ही वे यह भी

चाहते हैं कि विद्यार्थी गंदी एवं आतंक की राजनीति में लिप्त न हों। इसलिए कहा जाता है कि बालक एक सक्रिय राजनीतिज्ञ तथा कक्षा-कक्ष में शिक्षार्थी के रूप में कार्य-व्यवहार साथ-साथ नहीं कर सकता। इसका प्रबल विरोध किया जाना चाहिए कि राजनीतिक विद्यार्थियों को कठपुतली बनाये, इससे उनका तथा उनको प्रयोग करने वाले राजनीतिज्ञों का कोई भला होने वाला नहीं है। शक्ति की राजनीति से विद्यार्थियों को दूर ही रहना चाहिए। ज्योंही ये गंदी राजनीति में सम्मिलित हो जाते हैं, गेंग के सदस्य बन जाते हैं, उनका विद्यालयी शिष्यत्व समाप्त हो जाता है, स्कूल से कुछ अच्छा सीखने की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है तथा ऐसी स्थिति में वे देश का कोई भला नहीं कर सकते।

आज इन शब्दों पर, विचारों पर कई लोग उपहास कर सकते है, पर अगली पीढ़ी पर अनुसंधान करने वाले बतायेंगे कि व्यावसायिक ह्रास की दृष्टि से ये शब्द सही हैं, सारपूर्ण हैं, चरित्र-हीनता, लालफीताशाही, मूल्यों की अवमानना इसके उदाहरण हैं। इन्हीं कारणों से विद्यार्थियों की गंदी एवं घृणित राजनीति में लिप्तता दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

यह सर्वविदित है कि उपलब्ध समय में बहुत ही छोटा भाग शिक्षा के लिए लगता है। गणना कर लीजिये–किसी शैक्षणिक वर्ष में सम्र भर में प्राप्त 8760 घंटों में से 5 घंटे प्रति-दिन की दर से 200 दिन के लिए कुल 1000 घंटे शिक्षा के लिए प्राप्त है। यदि ऊपर दिये 1000 घंटे भी शिक्षा के लिए लगाये जाय तो भी अस्वास्थ्यकर समाजार्थिक स्थिति, राजनैतिक हस्तक्षेप, विद्यार्थियों से जुड़ी अन्य समस्याओं–बीमारी, विकलांगता, आदि के कारण शिक्षा के लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकते। शिक्षकों की हड़ताल, प्रश्न-पत्र बहिष्कार, शोक-दिवस, स्थानीय अवकाश आदि कारणों से प्राप्त समय और भी कम हो जाता है। इन स्थितियों में विद्यार्थियो का जो समय व्यर्थ जाता है, गंदी राजनीति में लिप्त होते हैं, विद्यार्थियों का यह सुनहला समय कभी पुनः लौट कर नहीं आता है। यदि इस समय का शैक्षिक तथा बौद्धिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाय तो अन्य कई उपयोगी फल प्राप्त हो सकते है, लाभदायक निष्कर्षों की आशा की जा सकती है।

वास्तविकता यह है कि विद्यार्थियों के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ राजनीति एवं राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों के बारे में गहन, विस्तृत एवं अधिकाधिक जानना ही लिया जाना चाहिए। वे राजनैतिक गतिविधियों,

उथल-पुथल के प्रति जागरुक रहें। यह स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि राजनैतिक हस्तक्षेप से शिक्षा की समस्यायें बढ़ती हैं, भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। अधिकारियों तथा बड़ों के प्रति विद्यार्थियों के मन में सम्मान समाप्त हो जाता है। अन्य अस्वस्थ गतिविधियां तथा ऐसी ही परम्पराएँ शिक्षा संगठनों एवं प्रशासन की जड़ें हिला देती हैं। इन सब घृणित कार्यों-मुद्दों से शिक्षा को मुक्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है तथा साथ ही विद्यार्थियों को जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ा जाय। विद्यालय का कार्य-दिवस खोना वास्तव में शिक्षा की ही हानि है, युवा पीढ़ी के कोमल मस्तिष्क के लिए चेतावनी की घंटी है।

वर्तमान परिस्थितियों से यह पाठ सीखना चाहिए कि विद्यार्थियों को गंदी राजनीति में लिप्त कर, उनको कठपुतली बना कर उनको भावी जीवन के लिये तैयार नहीं किया जा सकता है—वे समाजसम्मत या स्वीकार्य गुणों, कौशलों एवं योग्यताओं वाले नागरिक नहीं बन सकते, क्योंकि इन सब गतिविधियों से उनका मानस, चरित्र, कौशल, गुण, योग्यता, ज्ञान, परिपक्वता, विचारधारा, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जागरूकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

आज विद्यार्थी अपनी शक्ति भक्ति, सूझ बूझ तथा समय का उपयोग शिक्षा तथा शिक्षा से जुड़े कार्यों में करने के बजाय राजनीति में या अशैक्षिक गतिविधियों में शिक्षा संस्थान में तथा उसके बाहर कर रहे हैं। इन गति-विधियों में नशीली वस्तुओं का सेवन, व्यभिचार, डराना-धमकाना, लैंगिक अपराध आदि बुरी आदतों को गिनाया जा सकता है। नये भारत के निर्माता-शिक्षाविद, समाज सुधारक, अभियन्ता, वैज्ञानिक, चिकित्सक आदि समाज के कर्णधार के रूप में लाखों विद्यार्थी इन बुराइयों में लिप्त होते जा रहे हैं, अनुकरणीय चरित्र, कल्याणकारी विचारधारा, जीवन के मानवीय मूल्य, श्रम के प्रति निष्ठा, सटीक एवं पैना प्रश्न करने की सूझ-बूझ आदि गुण आज आकाश कुसुम हो गये हैं। यह सब विदित है कि विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में शिक्षा सम्बन्धी समुचित दिशा, मार्ग-दर्शन, प्रोत्साहन तथा पर्यावरण के नष्ट हो जाने से भावी पीढ़ी के रूप में इनसे निकलने वाले विद्यार्थी असन्तुष्ट है, भ्रमित हैं, असमंजस की स्थिति में हैं, वे अपना भविष्य अनिश्चित पा रहे हैं, कोई निर्णय नहीं ले पा रहे हैं और हमारे विद्यार्थियों को विवश हो कर इनका शिकार होना पड़ रहा है जबकि

तकनीकी विकास, बौद्धिक योग्यताओं तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये जा रहे हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या इन बुराइयों को समाप्त नहीं किया जा सकता ? क्या मानव इनसे छुटकारा नहीं पा सकता ? ऐसी नहीं है। इनसे त्राण पाया जा सकता है। यदि शिक्षा सही रूप मे दी जाय, शिक्षा संगठन उपयुक्त आधारों पर संचालित हो, विकासशील देश के लिए शिक्षा व्यवस्था प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो पर संचालित हो और आधारित हो, वैयक्तिक भिन्नता स्वीकार की जाय, बालक के व्यक्तित्व का आदर किया जाय, बड़े लाभ के लिए छोटे लाभ का त्याग सिखाया जाय तथा राष्ट्रीय शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति में राजनैतिक हस्तक्षेप रोका जाय तो संतुष्ट, सम्पन्न तथा मानवीय गुणों से युक्त समाज की रचना की जा सकती है, जिसमें सभी सुखी एवं खुशहाल होंगे। विश्व के सभी देश—प्रजातन्त्र, साम्यवाद, तानाशाही या एकतंत्र, समाजवादी व्यवस्था कैसी भी हो—यदि अपने विद्यार्थियों को राजनीतिज्ञों की कठपुतली न होने दें तो शिक्षा के क्षेत्र में वाछनीय दिशा मे बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है। जब तक ऐसा होता रहेगा या विद्यार्थी राजनीतिज्ञो के चंगुल मे फसे रहेंगे तब तक राष्ट्र-निर्माण मे उनकी महत्वपूर्ण गत्यात्मक भूमिका नगण्य ही रहेगी। इस क्षेत्र मे दिशा-हीनता के लिए पजाब का एक विशिष्ट छात्र संगठन जीता-जागता उदाहरण है।

आज राष्ट्र के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न खडा है कि शिक्षा और राजनीति के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींची जाय। आज राजनीतिक दल तथा उन दलों के नेता, विद्यार्थी तथा उनके माता-पिता, शिक्षा-शास्त्री तथा शिक्षा प्रशासक, समाज सुधारक तथा योजनाधिकारी, अकादमिक अधिकारी तथा शोष छात्र अपने निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर मानव के बेहतर हित मे खुले मस्तिष्क से, आलोचनात्मक दृष्टि अपनाते हुए, ठंडे मानस से, विस्तृत विचार पूर्ण सूझ-बूझ के साथ, राजनीति तथा शिक्षा के बीच समाज से स्वीकार्य विभाजन रेखा खीच लें। राष्ट्र निर्माताओं को इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर शिक्षा की सही भूमिका समझते हुए, प्रथम स्थान पर ध्यान देना चाहिए। कल्याणकारी समाज की रचना के लिये अपने निहित, छोटे, व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर सामूहिक हितों की दृष्टि से निर्णय लिया जाना चाहिए। शिक्षा के सामने यही एक बहुत बडी चुनौती है कि दायित्व समझने वाले, कौशल युक्त, प्रतिभा सम्पन्न नागरिक एवं सेवाओ के उच्च

स्तर के प्रति चिन्तित नागरिक शिक्षण संस्थाओं से बाहर नहीं आ रहे हैं। आज राष्ट्र निर्माण तथा विकास के लिये इस प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि वाले, प्राकृतिक आपदाओं, आकस्मिक दुर्घटनाओं, ह्रासोन्मुखी राष्ट्रीय चरित्र के प्रति चिन्तित नागरिकों की अत्यन्त आवश्यकता है, ऐसे ही सजग नागरिक खुशहाल भावी भारत के लिए आशा की दीप्तियुक्त किरण सिद्ध हो सकते हैं। ऊपर के विवेचन के प्रकाश में साररूप में यह कहा जा सकता है कि बेहतर भविष्य के लिये तथा राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्विवाद रूप से अनिवार्यतः विद्यार्थियों को शैक्षिक कार्यों में—केवल शैक्षिक गतिविधियों में—संलग्न किया जाना चाहिए—मात्र शैक्षिक उद्देश्यों के लिये तत्पर तथा मात्र उसी के लिए समर्पित—तथा अन्य सभी गतिविधियों पर निश्चित रूप से विद्यार्थी जीवन के बाद ही विचार किया जाना समीचीन होगा।





डॉ० जमनालाल बायती

जन्म : 1938, पारसोली (चित्तौड़गढ़) राजस्थान

शिक्षा : एम. ए. (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अंग्रेजी) एम. कॉम., एम एड. ए. एन. आई. ई. साहित्यरत्न (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र) पी-एच डी. (शिक्षा), डी. लिट्. (यू. एस. ए.)

प्रकाशित पुस्तकें :

शैक्षिक विचार, बालकों की सामान्य समस्याएँ, नैदानिक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण, शिक्षा के नये उभरते क्षितिज, रीडिंग्ज इन एजूकेशन।

लेखन : हिन्दी : शोधपत्र 115 लेख 283
अंग्रेजी : शोधपत्र 60 लेख 65
तीन शोधपत्र विदेशी पत्रिकाओं में।

पदक एवं पुरस्कार :

एन. सी. ई. आर. टी. से 1973 में, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा चार बार प्रथम स्थान पर, एमिटी इन्टरनेशनल द्वारा तीन बार प्रथम स्थान पर पुरस्कृत। संस्कृति, भाषा, कला, एव साहित्य परिषद् उ. प्र. द्वारा साहित्यालंकार।

संप्रति : राजकीय स्नातकोत्तर शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय बीकानेर–334001